डायरी के नीरस पृष्ठ

लेखक
इलाचन्द्र जोशी

सेन्ट्रल बुकडिपो
इलाहाबाद
१९५०

विषय-सूची

मेरी डायरी के दो नीरस पृष्ठ

बाजार में टीन की ढलुवाँ छतों से छाये हुए सब मकान एक दूसरे से बिलकुल सटे हुए हैं। जिस भाड़े के मकान की दूसरी मंजिल में मैं रहता हूँ उसका बाहर का कमरा केवल पाँच फुट चौड़ा है। उसके बाद सीधे आगे की ओर बढ़ने पर जो कमरा मिलता है वह प्रायः आठ फुट चौड़ा और उतना ही लम्बा है, पर बिलकुल अंधकारमय है। इसी घन-तमसाच्छन्न कमरे के एक कोने में मेरी चारपाई लगी है। इसके आगे दो कमरे और हैं। एक में काठ-कभाड़ पड़ा है, दूसरे में रसोई होती है। इसके बाद एक छोटा सा बरामदा है। अगल बगल में कोई कमरा नहीं है। एक सरल रेखा में ये चार कमरे जुड़कर एक वास-गृह के रूप में स्थित हैं।

श्रावण का महीना है। बहुत दिनों से सूर्य के दर्शन नहीं हुए हैं। निर्मल आकाश के दिन भी कभी मेरे चिरांधकारमय कमरे में प्रकाश नहीं होता; तिस पर यह बदली और उस पर भी नैनीताल का कुहरा! यह मौसम मेरी मानसिक परिस्थिति के अनुकूल है। विकल मोहाच्छन्न होकर घोर तामसिक छाया के आश्रय में दिन और रात अपनी चारपाई पर पड़ा-पड़ा मैं किन कुज्झटिकाच्छन्न स्वप्नों में निमग्न रहता हूँ!

दिन को मकान के सब बाबू लोग अपने-अपने दफ्तरों को चले जाते हैं। शून्य गृह में चारपाई में पड़ा-पड़ा जब उकता जाता हूँ तो बाहर कमरे में एक कुर्सी पर खिड़की के पास बैठ कर बाज़ार में लोगों का आना-जाना देखता हूँ। हमारे मकान के ठीक नीचे एक अफीम और चरस की दुकान है। कांग्रेस की तरफ़ से पिकेटिंग के लिए वहाँ बारह-तेरह वर्ष के दो लड़के खड़े हैं। दोनों बड़े चुस्त चालाक हैं। जो ग्राहक आता

है उसे हाथ जोड़कर, देश की दुर्दशा की दुहाई देकर, नशे की अपकारिता पर लेक्चर बघारकर रोक रहे हैं। ग्राहकों में से अधिकांश भंगी; चमार, धोबी तथा अन्यान्य तथा-कथित निम्न श्रेणी के ही आदमी हैं। लड़कों की कातर प्रार्थना से वे व्याकुल हैं; तथापि नशे की उत्कट लालसा से विताड़ित हैं। स्वराज्य के प्रति श्रद्धा रखते हुए भी इस दुर्दांत नशे को छोड़ना वे उचित नहीं समझते। उनके चेहरों के क्षुधार्त, पिपासित भावों से मैं अनुमान करता हूँ कि अपने निर्जीव, समाज-दलित, संसार-चक्र निपीड़ित जीवन में केवल नशे के समय ही वे वास्तविक जीवन का कुछ कृत्रिम आभास पाते हैं। यह प्रश्न बार-बार मेरे मस्तिष्क में आघात करता है कि उनका नशा छुड़ाने से क्या वास्तव में उनका हित होगा अथवा उनमें जीवन की जो कुछ भी चिनगारी अवशेष है वह भी निर्वापित होकर वे एक दम कोयले और राख की तरह जड़ बन जायँगे ?

उनके प्रति मेरी सहानुभूति का एक और कारण भी है। अब मैं भी नशा करने लगा हूँ। छब्बीस सत्ताईस साल तक एकदम 'सात्त्विक' जीवन बिताकर अब तमाखू पीने लगा हूँ, चाय के गुलाबी नशे में रँगने लगा हूँ। इन दो चीजों के बिना मुझे तनिक चैन नहीं रहता। मेरे एकाकी, निःसंग तामसिक जीवन में केवल ये ही दो सहृदय साथी मुझे बड़ी मुश्किल से प्राप्त हुए हैं। बहुत संभव है, अपने आपको ठगता होऊँ, पर इस आत्म-वंचना की इस समय मुझे परम आवश्यकता है।

रसोई के कमरे से लगा हुआ जो बरामदा है उस पर खड़े होकर कभी-कभी जब बाहर को नजर दौड़ाता हूँ तो सामने हरी तृण-लताओं से ढके हुए पहाड़ पर एक विचित्र चित्रमय जगत मेरी आँखों के सामने से गुजरता है। स्थान-स्थान पर छोटे-बड़े स्वच्छ, सुन्दर बँगले ऊपर-नीचे स्थित हैं। अपने बाज़ारवाले मकान के खटमलों की याद करके उन्हें देखकर जी ललचाता है। सामने सड़क के चौरास्ते पर लेक ब्रिज के नीचे से होकर झील का प्रवाह अतिवृष्टि के कारण मुक्त कर दिया गया है।

उस जलराशि का प्रवेग कठिन शिलाओं से टकराता हुआ दुग्धफेन से भी धवल रूप धारण करके, गर्जन करता हुआ उद्दाम वेग से नीचे को बहा चला जाता है। उसके जल-शीकर उछल-उछलकर पथिकों को मंत्रमुग्ध कर रहे हैं। नीचे मकानों की जो कतार लगी हुई है उसकी ढलुवाँ छतों में भी टीन की चादरें बिछी हैं। प्रातःकाल के गृहकार्य से निर्मुक्त स्त्रियाँ वृष्टिहीन दिनों में दिन के समय उन पर बैठती हैं और परस्पर सुख-दुख की बातें करके अपना भार-ग्रस्त-हृदय कुछ हलका कर लेती हैं। मैं उनकी बातें सुनता हूँ और उनमें बड़ी दिलचस्पी लेता हूँ। मैं गृहस्थ जीवन से सदा वंचित हूँ। सोचता हूँ कि यदि इन स्त्रियों के गार्हस्थ्य-चक्र के सुख-दुखों से किसी रूप में मैं भी जड़ित हो जाता तो एक अननुभूत नये जीवन का स्वाद लेता। पर यह भी जानता हूँ कि इस जन्म में यह संभव नहीं है।

एक अष्टादशवर्षीया मदमत्ता युवती अपने उच्छल यौवन से भरे हुए शरीर के अंग-अंग की गति मुझे विशेष रूप से दिखलाने के लिए प्रतिक्षण व्यस्त रहती है। कभी वह अपने निर्मुक्त केशों की बहार दिखलाकर, मंद-मंद मुसकराकर, मेरी ओर कुटिल दृष्टि से घूरती हुई ढलुवाँ छत की रपटन में ऊपर से नीचे को लुढ़कती है; कभी किसी ज्येष्ठा युवती के सुन्दर बच्चे को बड़े प्यार से गोद में बैठाकर बार-बार उत्कट दुलार से उसका मुँह चूमती है और बार-बार मेरी ओर ताकती है। क्यों मुझे वह इस तरह विकल करती है? अनोखी, उद्भट चिंताओं से ग्रस्त मेरे रूपहीन, शीर्ण, श्वेत मुख में, पारलौकिक स्वप्नों से उद्दीप्त मेरी ऐनक से ढँकी हुई आँखों में वह किस मोह का आकर्षण पाती है? हे मुग्ध पतंग! तुम्हारी यह पक्षताड़न-लीला वृथा है। मेरे हृदय में अब उतनी आँच नहीं कि तुम्हें जला सकूँ।

अन्यान्य युवतियाँ भी जानती हैं कि मैं बरामदे में खड़ा हूँ। इसलिए अनजान-सी बनने पर भी बीच-बीच में सहास्य सस्नेह दृष्टि से मुझे घूर लिया करती हैं। उस सरस दृष्टि से मेरे हृदय में शारीरिक स्पर्श

कान परिचित हो गये हैं। कुछ युवतियों का निद्रा-जड़ित कंठस्वर नित्य वैसा ही सुनाई देता है। किसी का स्वर सूक्ष्म और ललित है, किसी पुरातन महिला का नवीन संगीत-प्रेम जंतु-विशेष के स्वर में विकट रूप से प्रकट होता है। इन स्पष्टतया भिन्न-भिन्न कंठों को सुनकर मैं उन भिन्न-भिन्न महिलाओं के रूप की कल्पना भी बिना देखे मन-ही-मन कर लिया करता हूँ।

"कल्याणसिंह ! ए कल्याणसिंह !"

पर कल्याणसिंह मजे में खुर्राटे भर रहा है। चार-पाँच बार जोर से पुकारकर, गला फाड़ कर उसे जगाता हूँ। वह झल्लाकर अर्द्ध-निद्रावस्था में कहता है—"कौन है ?" "अबे ! उठता नहीं, दिन चढ़ आया।" चारपाई पर पड़े-पड़े तमाखू की चाट मुझे सता रही है, इसलिए गुस्से को रोक नहीं सकता हूँ। हल्ला सुनकर सुबह की मीठी नींद में विघ्न होते देख कर कोई एक बाबू झिझककर बोल उठते हैं—"सुबह-सुबह क्या गुल मचाया है ! जरा सोने भी न दोगे ! रात-भर खटमलों की वजह से आँख नहीं लगी। जरा आँखें झपने लगी थीं, कांग्रेस की बेहया छोकरियों ने आफत मचाई। अब इन हजरत ने सारा मकान सर पर उठा लिया है !" बाबू की रुद्रवाणी सुनकर मुझे मन ही मन हँसी आती है। कल्याणसिंह को यदि इस समय न जगाया जाय तो बाबू के साढ़े नौ बजे उठने पर खाना तैयार न होने से हेडक्लार्क साहब की धमकी का खयाल करके जोश में आकर इस निर्दोष छोकरे पर दुलत्तियों की बौछारें की जायँगी; मैं अच्छी तरह यह बात जानता हूँ।

अँगड़ाइयाँ लेता हुआ कल्याणसिंह उठता है। पर उठते ही उसके सारे शरीर में फुर्ती आ जाती है और यह तेरह बरस का लड़का दो-दो बड़ी-बड़ी बालटियों को दोनों हाथों में लेकर बाहर पानी भरने जाता है और "हम्माँ ! हम्माँ !" की आवाज करता हुआ काठ की विकट

सीढ़ियों के ऊपर कठिनाई से चढ़कर भीतर आता है। इसके बाद मिनटों में वह आग जलाकर हुक्का तैयार कर देता है और सेकिंडों में तमाखू भरकर लाता है। हुक्का हाथ में लेते ही मेरे उल्लास का ठिकाना नहीं रहता और मैं तब त्रिभुवन में अपने को सर्वश्रेष्ठ तथा सबसे अधिक सुखी पुरुष समझता हूँ। बिस्तरे पर बैठे हुक्का गुड़गुड़ाने लगता हूँ।

मेरी सारी दिनचर्या इस प्रकार है:—

(१) प्रातःकाल नींद उचटने पर कल्याणसिंह को जगाना (२) बिस्तरे पर बैठे-बैठे हुक्का गुड़गुड़ाना (३) चाय (४) फिर हुक्का (५) अखबार—बिस्तरे पर ही (६) इसके बाद चारपाई की माया त्यागकर स्नानादि क्रिया समापन (७) प्रातर्भोजन (८) तमाखू—(९) एक घन्टे तक अफीम की दूकान में पिकेटिंग देखना (१०) चारपाई की शरण (११) रसोई की ओर जो बरामदा है उस पर से नीचे छतों पर बैठी हुई स्त्रियों का अवकाशमय जीवन निरीक्षण (१२) तमाखू (१३) फिर ४-५ बजे शाम तक चारपाई (१४) चाय (१५) तमाखू (१६) बाबू लोगों के क्लब में ताश (१७) लौटकर भोजन (१८) तमाखू (१९) बाबू लोगों के साथ गपशप (२०) शयन (२१) खटमल-स्पर्श सुख का अनुभव।

नित्य-नित्य यही क्रिया चक्र पुनः पुनः परिवर्तित होता रहता है। दो-तीन महीने से उसमें बिलकुल भी बदलाव मैंने किसी दिन नहीं देखा। क्या इसी प्रकार का महत् जीवन बिताने के लिए मैं संसार में आया हूँ?

शाम को जब क्लब में ताश खेलने जाता हूँ तो उस स्वच्छंद जीवन का तामसिक आनन्द सारे हृदय में लहराने लगता है।

जिस मकान में 'यह ब्रिज क्लब' संस्थापित हुआ है उसकी छत वार-वनिताओं के मकान की छत से बिलकुल मिली हुई है। प्रतिदिन कोई-न-कोई वारयुवती किसी-न-किसी मेम्बर के साथ अवश्य ही वहाँ पहुँच जाती

है। खादी की फूलदार साड़ी से सुशोभित किसी-किसी अलबेली वारांगना का मोहन रूप कभी-कभी हृदय में एक स्निग्ध, मधुर वेदना जागरित कर देता है। विलासवती ललना को अपनी बगल में बैठाकर जब कोई युवक मेरा पार्टनर बनकर ताश खेलता है और ताश के 'आक्शन' की बोली बोलने में अपनी सखी की राय लेता है तो मैं अत्यंत उत्सुकतापूर्वक उस विश्वजन की प्रिया की ओर ताकता रह जाता हूँ। इतने निकट होने पर भी वह मुझसे इतनी दूर है और मैं उससे इतना अपरिचित हूँ! पर अन्यान्य मेम्बरों के हृदय से वह कितनी परिचित है! अपने परिचित सखाओं के साथ वह मधुर हास्य से बातें करती है, पर मेरी ओर अपनी दो प्यारी-प्यारी विस्मय भरी आँखों से ताकती है। शायद वह मेरे अंत-स्तल में डुबकियाँ लगाने की बहुत चेष्टा करती है, किन्तु कहीं थाह न पाकर फिर-फिर उसकी दृष्टि लौट आती है।

"टू हार्ट्स!"

"थ्री क्लब्स! टू नो ट्रंप्स!"

इस प्रकार सरासर बोलियाँ बोली जा रही हैं और खेल जमने लगता है। गेम पर गेम रबर पर रबर समाप्त होते जाते हैं और जुवे के इस चित्ताकर्षक खेल में तल्लीन होने के कारण हम लोग उस ललित ललना को और दीन-दुनिया को भूल जाते हैं। अन्त को प्रत्येक व्यक्ति की हार-जीत औसतन पाँच छः रुपये की होती है।

कभी-कभी हम चोरी-छिपे विशुद्ध जुवे के खेल में मस्त हो जाते हैं। अपनी जमा को खतरे में डालकर दूसरे की जमकी घात में रहने में कैसा अपूर्व आनन्द मिलता है! संत लोगो को इस आनन्द का रस कैसे समझाया जाय!

मैं जानता हूँ कि दुनिया मेरे पतन पर हँसती है और अत्यन्त घृणा से मेरी ओर से मुँह फिरा रही है। पर भाग्य ने तो मुझे जन्म का जुवारी बना रक्खा है। प्रकृति की गाँठ से जिस अव्यक्त आनन्द को प्राप्त करने के लिए मैंने अपना सारा जीवन ही दाँव में रक्खा था

उसके कारण आज सब खोये बैठा हूँ। मुझ फक्कड़ को अब लोक-लाज से मतलब?

पर संसार मुझसे चाहता क्या है? बूँद बूँद करके उसने मेरा खून चूस रक्खा है, तिल-तिल करके मेरा सम्मान और गौरव उसने विनष्ट कर दिया है, उसने चाहा है कि मैं अपने गर्वोन्नत मस्तक को झुकाकर मिट्टी में मिलाऊँ। अब जब मैं उसी के साथ एक समतल में चलने लगा हूँ तो उसे क्या अधिकार है कि वह मुझे अपने से नीचा समझे और घृणा की दृष्टि से देखे?

असल बात यह है कि मैंने अपनी इच्छा-शक्ति बिलकुल दबा दी है। जिस बहाव में जाता हूँ, उसी में बह जाता हूँ। किसी बात के प्रति मेरे हृदय में घृणा नहीं है, किसी विशेष विषय की उसमें चाह नहीं है। निर्द्वन्द्व, उल्लासकर, संसारचक्र की चिंता से रहित जो कोई भी जीवन जहाँ कहीं भी मुझे मिलता है, उसीको अपनाता हूँ। तुम क्या अफीमची या गँजेड़िया हो? आओ, आओ भाई, आओ! तुमसे मेरी पूरी सहानुभूति है। तुम क्या जुवारी हो? संसार की चिन्ता भूलकर इस खतरनाक मैदान में प्रज्वर आवेग से निर्द्वन्द्व आ कूदे हो? आओ! आओ! मैं तुम्हारा अंत तक साथ दूँगा। तुम क्या वेश्यासक्त हो? लालसामय रूप की लास्य चिन्ताग्नि में मुग्ध पतंग की तरह अपने प्राणों की आहुति देने के लिए लालायित हुये हो? आओ! आओ! मेरे प्यारे भाई! अपने साथ मुझे भी उस विकराल ज्वाला के ताप का अनुभव कराओ। तुम क्या मद्यपायी हो? संसार के कठिन जीवन से मुक्ति पाकर स्वच्छंद जीवन के लिए मतवाले हो उठे हो? निश्चित होकर मृत्यु के अंधकूप की ओर लुढ़कते चले जाते हो? हे प्रिय सखा! मुझे भी अपने साथ ढकेले ले चलो!

अभ्यासवश नित्य अखबार पढ़ता हूँ। मालूम होता है कि मेरी केंद्र-परिधि की चारों ओर दुनिया बेतरह व्यस्त हो उठी है। पर क्यों,

किसलिये, किस महाशून्य की ओर वह दौड़ी है, इस बात का ठीक अंदाज लगाना मेरे लिए कठिन है। सारी दुनिया को घोर कर्मों में निरत देख रहा हूँ। ऐसा अनुभव करता हूँ जैसे मैं अर्द्ध-रात्रि में कोई विकट अर्थहीन स्वप्न देखता होऊँ।

× × ×

पानी! पानी! पानी! तीन दिन से लगातार पानी बरस रहा है। आज डेढ़-दो घण्टे के लिए कुछ शांति हुई थी, अब फिर तीक्ष्ण धारा-पात आरंभ हो गया है।

"कल्याणसिंह! जरा बाहर की खिड़की बन्द कर दे। भीतर पानी आता है।"

आटा गूँदना छोड़कर गीले हाथों से कल्याणसिंह आता है और दरवाजा बंद कर देता है।

"एक चिलम तमाखू भर जाना।" यह आदेश देकर मैं अपने अंधकारमय कमरे में जाकर निखिल विश्व से अलग इस निराले कोने में चारपाई पर परम आराम से लेट जाता हूँ।

सारा कमरा धुएँ से भर गया है। एक सरल रेखा में एक कमरे से दूसरे की ओर आगे बढ़ने के सिवा इस अभागे धुएँ के लिये और कोई मार्ग भी तो नहीं है! बाबू लोगों के दफ्तर से आने का समय आ पहुँचा है, इसलिये कल्याणसिंह जलपान तैयार करने में लगा है।

ऊपर मकानवाले की स्त्री और लड़कियों के पैरों से धमाधम आवाज हो रही है, और टीन की छतों पर झमाझम पानी बरस रहा है। मैं एक मोहाच्छन्न, शांत सुखालस का अनुभव कर रहा हूँ। काठ की दीवार के परे जो बाबू रहते हैं वहाँ से स्पष्ट शब्द सुनायी देता है।

कल्याणसिंह चिलम में जलती हुई आग पर हाथ रखकर उसे निर्विकार भाव से फूँकता हुआ आता है। इस अँधेरे कमरे में आग के प्रकाश से उसका गोरा मुँह तमतमाया हुआ दिखाई देता है। मैं उठ

बैठता हूँ और अत्यन्त धैर्यपूर्वक धूम्रोद्गीरण करता हुआ, उसका रसास्वादन करता हूँ।

थोड़ी देर में एक रकाबी पर गरम-गरम आलू के दम रखकर वह मेरे पास लाता है। पशुतुल्य आनन्द से मैं आँखें मूँदकर परम तृप्ति से उन्हें खाने लगता हूँ। फिर एक कप चाय पीकर पुनः धूम्र-सेवा करता हूँ और अपने को राकफेलर और हेनरी फोर्ड से कई गुना अधिक धन्य समझता हूँ। पशु-जीवन की जिस सरल, अलस शांति का अनुभव इस समय मैं कर रहा हूँ उसका अनुभव क्या उक्त घोर कर्मज्वार-विताड़ित, अनन्त धन-लालसा-मत्त सेठों को कभी स्वप्न में भी हो सकता है?

असल बात यह है कि वे एक चरम सीमा पर पहुँचे हैं और मैं दूसरे चरम सिरे पर। हम दोनों की ही आत्माएँ रोग-ग्रस्त हैं। वे अपनी जर्जरित आत्मा के ज्वर की तीव्र वेदना को तीक्ष्णता से अनुभव कर रहे हैं, और मैं मीठे पर घातक ज्वर के गुलाबी नशे से मधुर मोह की निद्रा की क्रोड़ में झूम रहा हूँ। वे सन्निपातग्रस्त हैं और मैं क्षय रोग से विकल हूँ।

पर यह क्या! अलौकिक तान में यह बाँसुरी कहाँ बजती है! किस पहाड़ के ऊपर से होकर कैसी स्वर-लहरी मेरे कानों में आकर झंकृत होती है? क्यों मेरे स्तब्ध हृदय की सुप्त चेतना अकस्मात् तलमलाने लगी है! अपरिचित पथिक! सुख की नींद में सोये हुये मेरे उन्मत्त यौवन को तथा प्रवेगमय नवीन जीवन की भावनाओं को मत जगाओ। मेरे मानस के हंस को कमल- दल की पंकिलता में ही बिचरने दो; सुदूर हिमालय की उन्मुक्तता की ओर इसे आकर्षित मत करो।

बाँसुरी की उज्ज्वल, मीठी वेदना उल्कापात की तरह मेरे अंधकारमय हृदय में क्षणिक उल्लास संचारित करती हुई शून्य में विलीन हो गयी। क्षणभर के लिए पूर्व परिचित, विस्मृत स्वर्ग के चैतन्य का अनुभव करके मैं फिर अपने वर्तमान नरक के पंक में निपतित होकर दुर्गन्धि में सड़ रहा हूँ।

बाबू लोग आये और सैर करने चले गये। आज ताश के अड्डे में जाने की तनिक भी इच्छा नहीं होती। चारपाई पर लेटा-लेटा नाना उद्भ्रांत अर्थहीन स्वप्नों का जाल बुन रहा हूँ। वर्षा शायद बन्द हो गई है—टीन की छतों पर पानी बरसने का शब्द नहीं सुनायी देता। बाहर संध्या का अंधकार घनी-भूत होने लगा है—ऐसा जान पड़ता है। झींगुरों की झनकार एक स्वर से लोरी गाकर इस शांत, अंधकार वासगृह को मधु-मूर्च्छा में मग्न कर रही है। भीतर कल्याणसिंह भी नहीं है। वह बाज़ार, सौदा करने गया है। विह्वल मोह से स्तब्ध अपने कमरे में मैं संसार के लोगों द्वारा निर्वासित और भाग्य-कृत विताड़ित जीव विकल अकेला पड़ा हूँ। कौन मेरे लिए रोयेगा?

छम—छम ......छमाछम !

पिछवाड़े के रास्ते से होकर कोई स्त्री काठ की सीढ़ियों से ऊपर चढ़ रही होगी। पाँवों के बिछुओं का वह मंद-मंद मधुर स्वर रसोई के बरामदे में आ पहुँचता है। मकान मालिक के यहाँ की कोई स्त्री ऊपर को जाती होगी।

पर बहुत देर तक इस प्रायांधकार संध्या के समय एक अस्पष्ट छाया बरामदे से भीतर पड़ी हुई दिखलायी देती है। मुझे उत्सुकता होती है, पर उठ नहीं सकता।

कल्याणसिंह बाजार से आता है।

"जरा देखना तो भाई, बाहर कौन खड़ा है?"

वीणा के निनाद से भी एक मधुर स्त्री-कंठ कल्याणसिंह को संबोधित करता है। कल्याणसिंह उत्तर देता है—"हाँ भीतर ही हैं। चारपाई पर लेटे हैं।"

"छम छम छम !"

यह क्या ! भीतर कौन आता है ! इस स्त्रीहीन वासगृह में इस संध्या के समय यह कौन अपरिचित स्त्री मेरी फिराक में चली आ रही है ! मेरे

आश्चर्य, कौतूहल और आशंका की सीमा नहीं रहती। अपने बाँयें हाथ को तकिए पर अड़ाकर लेटे-लेटे उस पर अपना बाँया गाल स्थापित करके सचेत हो जाता हूँ।

"भैया! लेटे हो क्या? तबीयत क्या कुछ खराब है?"

यह परिचित कंठ-स्वर किसका है? मैं व्यस्त होकर उठ बैठता हूँ। अंधेरे में चेहरा ठीक पहचाना नहीं जाता।

क्या कहूँ, कहाँ उसे बिठाऊँ, कुछ समझ में नहीं आता।

"कल्याणसिंह! बत्ती जलाकर जल्दी ले आ। माफ करना, मैंने पहचाना नहीं। बैठ जाओ, रोशनी आती है।"

वह फर्श पर कालीन के ऊपर बैठ जाती है। कल्याणसिंह बत्ती जलाकर लाता है। चौंककर देखता हूँ कि मेरे प्रथम जीवन के प्रतिपल की संगिनी मोहनी दुबककर बैठी है। उसका विवाह होने पर सिर्फ एक बार उसे देखा था। उसके बाद आज बहुत वर्षों में अचानक इस अंधकार कमरे में इस वर्षा-संध्या के समय वह दिखायी दी! कब, कहाँ, किस जन्म में ठीक किस अवसर पर किससे भेंट होगी, अदृष्ट भाग्य-निर्दिष्ट इस रहस्य की बात कोई नहीं कह सकता।

उसके मुख के गठन में, आँखों की भाव-व्यंजना में अनेक परिवर्तन हो गया है, पर उसके अन्तस्तल की एक सूक्ष्म विशेषता अब भी वैसी ही अभिव्यक्त हो रही है जैसी किशोरावस्था में थी।

"मोहनी, तुम यहाँ कहाँ! आज कैसे यहाँ आ पड़ी हो? मेरा पता तुम्हें कैसे लगा?"

आकस्मिक, अप्रत्याशित आनंद से उत्तेजित होकर तीन प्रश्न मैंने साथ ही किये। अपने उल्लास को बहुत दबाने की चेष्टा की, पर पूर्ण सफल नहीं हुआ

वह बोली—"मैं तो आज सात साल से यहीं हूँ। नीचे जो बाबू रहते हैं, उनके यहाँ आया-जाया करती हूँ। उनकी स्त्री से पता चला कि

तुम एक महीने से नैनीताल आये हो। उन्हीं से मालूम हुआ कि यहाँ रहते हो। अल्मोड़े में सब कुशल तो है, भैया? तुम्हारी तबीयत क्या खराब है?

वह अत्यंत गंभीर होकर, सयानी स्त्रियों की तरह बोल रही थी। उसकी शांत स्थिरता और रुखाई देखकर मेरा उत्साह बहुत कुछ ढीला पड़ गया। अब वह चंचला किशोरी नहीं रह गयी थी। ऐसा मालूम होता था कि मातृत्व की आँच से तपकर उसका हृदय सुदृढ़ बन गया है। आज एक बिलकुल नया, अपूर्व परिचित सौंदर्य लेकर मेरे सामने उपस्थित थी।

मैं तकिये पर हाथ रखकर फिर लेट गया और लेटे लेटे उससे बातें करने लगा। प्रारंभ में वह कुछ सकुचायी-सी थी। धीरे-धीरे खुल कर बोलने लगी।

चारपाई पर लेटने के आनंद से मुझसे बढ़कर कोई परिचित नहीं होगा। पर मुझे भी लेटने में ऐसा सुखालस कभी प्राप्त नहीं हुआ, जैसा इस समय हो रहा था। मैं समझ रहा था कि मैं निखिल प्रकृति का एकमात्र राजा हूँ और मेरी एकमात्र रानी नीचे बैठी है। मेरे घर के और अपने मैके के संबंध में वह अनेकानेक प्रश्न करने लगी। अनेक वर्षों के बाद अपने प्रथम जीवन की मधुर स्मृतियाँ एक नये रूप में एक-एक करके मेरे हृदय में उदित होकर जुगनुओं की तरह जगमग-जगमग कर रही थीं। उसके साथ मेरे कैसे उल्लास, कैसी आशा के दिन बीते थे! जन्माष्टमी, दशहरा, दीपावली आदि उत्सव कैसे उत्सुक आनंद सहित मैंने उसके साथ बिताये थे! अन्तिम वर्षा के समय अल्मोड़े में नंदादेवी की पूजा के अवसर पर बड़ा मेला लगता है। स्थान-स्थान से किसान लोग बाँके-रसीले बन कर वहाँ जमा होते हैं। उस अवसर पर खेती का काम न होने से अपने उल्लास-पूर्ण पार्वतीय हृदय से निर्द्वन्द्व आनन्द से नाचते-गाते हैं। प्रतिवर्ष हम दोनों उस मेले के आगमन के लिए बहुत पहले से उत्सुक रहा करते थे। मेले से अवसर पर हम दोनों साथ ही अत्यंत उल्लास के साथ उस लोकारण्य में सम्मिलित होते थे और विशेष रुचिपूर्वक उस

निर्मुक्त आनन्द-लीला का रस लेते थे। वे सब स्मृतियाँ मुझे विकल करने लगीं। शायद उसका भी यही हाल था। मैं ऐसा मालूम कर रहा था जैसे मेरे पूर्व-जन्म की प्रिया युगों के बिछोह के बाद भावी जन्म में मुझे मिली है। जैसे वर्तमान जन्म से मेरा कोई संबंध नहीं है।

प्रायः एक घण्टे तक वह मेरे पास बैठी रही। फिर बोली—"अब चलती हूँ। बच्चे नीचे बहुत देर से मेरे इंतजार में बैठे होंगे।"

बच्चे! तब मेरा अनुमान ठीक ही था। उसका मातृत्व उसकी आँखों की सरस वेदनामय छाया से स्पष्ट झलकता था।

मैंने कहा—"उन्हें यहाँ क्यों नहीं लायी? मेरे मन में बड़ी उत्सुकता पैदा हो गयी है। मैं क्या उन्हें खा डालता? तुम्हारी बुद्धि क्या अब तक वैसी ही पत्थर बनी है?" मुझे अभिमानवश बेतरह गुस्सा आ रहा था।

"आज देर हो गयी है। एक दिन फिर कभी बच्चों को लेकर आऊँगी भैया!" कहकर वह धीरे-धीरे वापस चली जाती है।

जाओ! जाओ! हे नारी! इस स्वार्थमय संसार में मैं कभी यह आशा नहीं कर सकता कि तुम हम दोनों के बाल्यकाल के स्नेह के नाते से मेरे जटिल चक्रमय हृदय की वेदना को समझने की चेष्टा करोगी। मेरा यह हृदय एक विशेष प्रकार के आग्नेयगिरि के समान प्रकट में शांत दिखाई देता है, पर भीतर अन्तराग्नि से अत्यन्त क्षुब्ध और प्रपीड़ित है। अपने शांत-हृदय पति और बाल-बच्चों को लेकर तुम स्निग्ध गार्हस्थ्य जीवन की मनोमोहिनी माया से मंत्रमुग्ध हो। अपने अन्तःकरण के संस्कार-वश मेरे हृदय की ज्वलंत आँच के पास फटकना भी न चाहोगी यह तो जानी हुई बात है।

उसके बाल-बच्चों के प्रति मेरे हृदय में जो एक लोभ-प्रद मोह का भाव क्षण में उत्पन्न हो गया था, वह पल में उसी तरह विलीन भी हो

गया। मैंने फिर अपने गहन मन के भौतिक चक्रव्यूह के भीतर प्रवेश कर लिया।

× × ×

आज आकाश एकदम नीले काँच के समान परिष्कार-परिच्छन्न है। सुनहली धूप से पृथ्वी मनोहर रूप धारण किये है। झील के दोनों तरफ़ दोनों सड़कों से होकर अलबेली स्त्रियाँ रङ्ग-बिरङ्गे वस्त्र पहनकर आ रही हैं और जा रही हैं। आज शायद कोई उत्सव का दिन है। इधर मेघमुक्त दिवस में प्राकृतिक उत्सव चल रहा है, उधर संसार के नित्य कर्मों से मुक्त दिवस में सांसारिक नर-नारियों का आनंद व्यक्त हो रहा है। मेरी आँखों के सामने से होकर एक अर्थहीन रङ्गीन स्वप्न की माया झलक रही है। मृत्यु के इस पार से आज अनेक दिनों के बाद मुझे जीवन के लिए रोने की इच्छा हुई है। पर जानता हूँ कि रोना भी स्वप्नमयी माया की तरह ही व्यर्थ है। आज अवकाश पाकर मैं यह सोच रहा हूँ कि मैं कौन हूँ? पागल हूँ? भूत हूँ? प्रेतात्मा हूँ? छाया हूँ? स्वप्न हूँ? क्या हूँ? मेरी आँखों के सामने संसार के जो ये सब जीव उठते-बैठते हैं, आते जाते हैं, खाते-पीते हैं, प्रतिदिन के सुख-दुःख की वेदना अनुभव करते हैं, उनसे क्यों अपनी आत्मा का अणुमात्र भी संयोग मुझे अनुभूत नहीं होता?

सब झूठा है! सब झूठा है! ये सब जीव भी मिथ्या हैं, मैं मिथ्या हूँ! वृष्टि का दिन भी असत्य है और आज की यह सुनहली धूप भी काल्पनिक है! जीवन का रङ्गीन स्वप्न भी एक भ्रामक माया है। और मृत्यु? तब क्या केवल एक मृत्यु ही सत्य है? नहीं! नहीं! वह भी मेरे लिए सत्य नहीं है। बुनो! बुनो! हे असत्य। मेरी आत्मा के चारों ओर प्रतिपल जीवन-मृत्यु के ताने बाने से मायामय जाल बुनते चले जाओ!

सोचते-सोचते क्लांति का अनुभव कर रहा हूँ। आँखें झपने लगी हैं। चिर-प्रिय चारपाई में जाकर लेट जाता हूँ। हुक्के की याद आती है। कल्याणसिंह को पुकारता हूँ।

थोड़ी देर में कल्याणसिंह हुक्का हाथ में लिये आता है। चारपाई में लेटे-लेटे गुड़गुड़ाता हूँ। दो ही फूँक में अलौकिक अनुभूति का संचार होने लगता है। सोचता हूँ कि यह हुक्का ही परम सत्य है। चारपाई में इसी तरह झूमते झूमते चिरकाल तक लेटे रहना ही परम निर्वाण है। पर बीच-बीच में दो-एक खटमल जिस अवर्णनीय चैतन्य का संचार कर रहे हैं उससे निर्वाण का स्वप्न भी भंग होने लगता है।

मिस्त्री

श्रीमतीजी की सिंगर मशीन बिगड़ गई थी और उसके बिना उन्हें दिन काटना दूभर हो रहा था। वे रोज़ मुझसे इस बात के लिए जवाब तलब करके परेशान कर रही थीं कि मैं जल्दी उसे किसी मिस्त्री के हवाले करके ठीक क्यों नहीं करा लेता। इधर मैं यह सोच रहा था कि नियमित रूप से चलनेवाली मशीन की खटर-खटर से कुछ समय के लिए छुट्टी पाने का जो मौका दैवयोग से आ पड़ा है, उसे जल्दी हाथ से क्यों जाने दिया जाय! पर श्रीमतीजी के 'रिमाइण्डरों' के मारे भी तो नाकोंदम था। मैं फिर भी कुछ समय के लिए और टालता, पर अन्त में जब नौबत यहाँ तक पहुँच गई कि श्रीमतीजी ने मुझसे खुट्टी कर लेने का निश्चय कर लिया और यह कहकर धमकी दी कि नन्हें को लेकर वह शीघ्र ही मायके चली जायँगी और वहीं उसके लिए 'फ्राक' सीएँगी तो मुझे अपना विचार बदलना पड़ा और मैंने मशीन को किसी मिस्त्री के पास ले जाने का इरादा कर लिया। पर मिस्त्री कहाँ मिलेगा, इस बात की मुझे कुछ भी जानकारी नहीं थी। मैंने अपने जीवन में यह मशीन प्रथम बार अपनी नवोढ़ा पत्नी के अनुरोध से कुछ ही मास पूर्व ख़रीदी थी। अतएव मुझे इस बात का कुछ भी पता नहीं था कि उसका कौन पुर्ज़ा कैसे ख़राब होता है और उसे ठीक कराने के लिए किस मिस्त्री के पास जाना होगा। अपने एक तजुर्बेकार मित्र के आगे मैंने जब अपनी दिक़्क़त पेश की तो उन्होंने कहा कि वह एक मिस्त्री को जानते हैं, जो काम में होशियार तो अवश्य है, पर है बड़ा आलसी। जब तक उसे अपने पास बुलाकर अपने सामने ही काम न करवाया जाय, तब तक वह कुछ करता नहीं। उन्होंने दो-एक दिन के भीतर ही उसे मेरे पास भेजने का वचन दिया।

उस दिन रविवार था। मुझे आफ़िस जाना नहीं था। इसलिए यद्यपि दस बज चुके थे, मैंने अभी तक नहाया-धोया तक न था और बड़ी फ़ुर्सत से, आराम के साथ बाहर के कमरे में बैठा हुआ अख़बार पढ़ रहा था। इतने में किसी ने बाहर से "बाबू साहब! बाबू साहब!" कहकर पुकारा। मैंने बरामदे में जाकर देखना चाहा कि कौन है। बाहर एक अनोखी शक्ल-सूरत का आदमी खड़ा था। गौर से देखने से मालूम होता था कि उसकी आयु चालीस से कम ही होगी, अधिक नहीं, पर सरसरी निगाह से उसे देखने पर कोई उसे ६० वर्ष से कम का न बताता। उसका मुँह एकदम सूखा हुआ था। उसमें स्थान-स्थान पर इतनी झुर्रियाँ पड़ गई थीं कि उन्हें गिनना असम्भव था। सर के बाल आधे पक गये थे। आँखों में वह चश्मा लगाये हुए था। एक फटी और वर्षों से मैली पड़ी हुई धोती और उसी तरह के कुर्ते के साथ ऐनक लगाने से वह व्यक्ति विचित्र स्वाँग का-सा दृश्य आँखों के आगे खड़ा कर रहा था। हाथ में वह कुछ औज़ार लिये था।

मैंने पूछा—"किसे खोजते हो?"

"आपकी कोई मशीन ठीक करनी है क्या?"

"हाँ, चले आओ।"

उसे बाहर के कमरे में बिठाकर मैंने अपने नौकर से मशीन ले आने के लिए कहा।

मशीन जब उसके पास लाकर रख दी गई, तो उसने एक बार परीक्षा की दृष्टि से सरसरी तौर पर उसे देखा और देखकर कहा—"मशीन तो आपकी नयी है। पर साहब, सिंगर कम्पनी अब वह माल नहीं देती, जो पहले दिया करती थी। क्या जमाना आया है, बाबू साहब! छोटे-मोटे तिजारती तो बेईमानी करते ही थे, पर अब बड़ी-बड़ी कम्पनियों की नीयत भी बदलने लगी है। कम्पनियाँ ही नहीं, बड़े-बड़े वकील बैरिस्टर, जज-कमिश्नर सभी के सुभाव बदल गये हैं और जो

दरिया-दिल लोग पहले दिखाई देते थे, वे अब क़तई नहीं दिखाई देते। और बड़े आदमियों की औरतें तो ऐसी कम-नीयत और कन्जूस होती जाती है कि उनसे मिलने पर गुस्सा आये बिना नहीं रहता। बात असल में यह होती है कि वे होती हैं छोटे घरों की और ब्याही जाती हैं बड़े घरों में। न उनके बाप ने कभी पैसा देखा न उनके बाबा ने, इसलिए जब ससुराल जाती हैं तो नीयत वैसी की वैसी ही बनी रहती है। अभी मैं एक एडवोकेट साहब के यहाँ से आ रहा हूँ। बड़ा भारी उनका बँगला है, बड़ा भारी कारोबार है, खूब कमाते हैं, पैसे की कोई कमी नहीं है। उनकी मेहरारू की सिंगर मशीन बिगड़ गई थी। मैंने उसे घर ले जाकर ठीक किया और कुछ पुराने पुर्जों को निकालकर उनकी जगह में नये पुर्जे जोड़कर उसे दुरुस्त कर दिया। उनकी नयी मशीन भी शायद उतनी अच्छी तरह से न चलती होगी, जैसी कि अब चलने लगी है। पर जब मैंने मजूरी माँगी तो कहने लगीं कि जो पुराने पुर्जे तुमने इसमें से निकाले हैं, उन्हें जब तुम हमें वापस करोगे, तब मजूरी मिलेगी। यह है बड़े घरानों की औरतों की नीयत का हाल! सच बात तो यह है बाबू साहब, की औरत जात ही ऐसी तंगदिल होती है......"

मैंने देखा कि आदमी बड़ा बातूनी है। बातों के चक्कर में डालकर वह व्यर्थ ही मेरा और अपना भी काफी समय नष्ट कर डालेगा। इसलिए बीच ही में बात काटकर मैंने कहा—"अच्छा यह तो देखो कि इस मशीन में खराबी कहाँ पर आ गई है।

"वह तो मैं पहले देख चुका हूँ, बाबू साहब! किसी मशीन को देखते और छूते ही मैं बता सकता हूँ कि उसका कौन पुर्ज़ा ख़राब हुआ है। यह तो आपकी कपड़ा सीने की एक छोटी-सी मशीन है। किसी फैक्टरी की बड़ी से बड़ी मशीन की जाँच सिर्फ दो मिनट के लिए करने पर मैं बता सकता हूँ कि कौन पुर्जा ढीला या टेढ़ा हुआ है। मुझे तो ऐसा लगता है कि मैं पेट से ही मशीनरी का काम सीखकर आया था।

पर दिल्लगी देखिये कि मैं पैदा हुआ एक जौहरी के घर ! अपने कुल में मिस्त्री का पेशा करनेवाला मैं ही पहला आदमी हूँ।"

इस विचित्र व्यक्ति के जीवन के सम्बन्ध में मेरी दिलचस्पी अवश्य बढ़ रही थी, पर साथ ही इस बात से भी मैं घबरा रहा था कि काम में व्यर्थ की देर हुई जाती है। मैंने काम की ओर उसका ध्यान आकर्षित करने के इरादे से कहा—"तो तुम्हें मालूम हो गया है कि मशीन कहाँ पर बिगड़ी है ?"

"जी हाँ।" कहकर उसने एक औजार से मशीन के जुड़े हुए टुकड़ों को खोलना शुरू कर दिया और खोलते हुए कहा—"एक बर्तन में मिट्टी का तेल मँगाइए।" मैंने नौकर से कह दिया। वह एक शिलफ़ची में तेल ले आया। पुर्ज़ों को खोलकर शिलफ़ची में डालते हुए उसने कहा—"मेरी तो यह इच्छा थी बाबू साहब, कि विलायत जाकर हवाई जहाज़ का काम सीख आऊँ। पर क्या बताया जाय, सिर्फ़ एक बात की वजह से वहाँ जा नहीं पाता। मैंने सुना है कि वहाँ अफ़ीम नहीं मिलती और अफ़ीम के बिना मैं एक दिन भी नहीं जी सकता।"

मैंने कहा—"कौन कहता है कि विलायत में अफ़ीम नहीं मिलती ? अफ़ीम तो वहाँ जरूर मिलनी चाहिए।"

उसने अधिकार के साथ कहा—"आप नहीं जानते। एक मेम साहब के यहाँ मैंने काम किया था। उससे मैंने जब विलायत जाने की बात चलाई तो उसने कहा—"मिस्त्री, तुम विलायत में बिना अफ़ीम के मर जाओगे। वहाँ अफ़ीम नहीं मिलती।"

"अफ़ीम की आदत तुम्हें कब से और कैसे पड़ गई ?"

उसने कहा—"पन्द्रह बरस से मैं बराबर अफ़ीम खाता आया हूँ। कैसे इसकी लत मुझे पड़ गई, यह मैं आपसे क्या बताऊँ ! पर हाँ, इतना मैं आपसे ज़रूर कहूँगा कि इस लत ने मुझे तबाह कर दिया। पर इसे भी दोष देना ठीक नहीं है। सच बात यह है कि मेरे पिछले जनम के

करम ही ऐसे रहे हैं कि इस जनम में एक दिन के लिये भी यह नहीं जाना कि सुख किसे कहते हैं। यह जरूर है कि अफ़ीम के नशे में मैं अपने दुखों को भूला रहता हूँ। आपको मालूम होना चाहिए कि यह शाही नशा है और नशे की हालत में अफीमची लाट की भी परवा नहीं करता। पर नशा आखिर नशा ही है। वह कुछ समय के लिये आदमी की मति बदल देता है, बस। इसके अलावा दुख के जो काँटे मेरे कलेजे को छेदते रहे हैं, वह नशे से कहाँ तक दबाये जा सकते हैं।"

मैंने देखा कि वह बातूनी अफीमची तब तक शान्त नहीं होगा, जब तक वह अपने मर्मोद्गार पूरी तरह से निकाल न ले। उसकी जीवन-कथा जानने की भी कुछ उत्सुकता मेरे मन में उत्पन्न हो गई थी। मैंने उसके जीवन के सम्बन्ध में उससे दो एक प्रश्न और किये। अपने सम्बन्ध में मेरा जिज्ञासु-भाव देखकर वह ऐसा उत्साहित हो उठा कि आवेश में आकर हाथ को 'रिक्श' ज़मीन पर रखकर मुझे अपनी राम-कहानी सुना चला—

× × ×

"अपने कुल में मैं ही पहला आदमी हूँ, जिसने मिस्त्री का पेशा अख्तियार किया है। मेरे बाप-दादा जौहरी थे। पिताजी साल में छः महीने रियासतों में चक्कर लगाकर जवाहरात बेचते थे और बाक़ी छः महीने घर बैठकर राग-रंग में कमाये हुए रुपयों को उड़ाते थे। उनके पास कितनी पूँजी रही है, इसका ठीक अन्दाज कभी कोई न लगा सका। इस बारे में तरह तरह के लोग तरह-तरह की बातें किया करते थे। कोई कहता था कि उनके पास पन्द्रह लाख रुपये हैं और कोई कहता था, पन्द्रह हज़ार। मेरा तो इस समय यह ख़याल है कि दोनों ही बातें सच थीं। पर उस समय इस बात की कोई चिन्ता ही पैदा न हुई कि मेरे बाप के पास कितना धन है। हम दो भाई थे और दोनों ही बड़े मौज से और ठाट से रहते थे।

"बाबूजी ने बहुत कोशिश की कि मैं लिखना पढ़ना सीखूँ। पर मैं

कभी एक दिन के लिए भी किताबों में जी न लगा सका। तीन मास्टर मुझे पढ़ाने आया करते थे, पर मैं उन्हें इस बात का भरोसा देकर कि मेरे न पढ़ने पर भी उन लोगों की नौकरी बरक़रार रहेगी और यह जताकर कि मेरी पढ़ाई पर ज़ोर देने से ही उनके बरख़ास्त होने का डर है, उन्हें धता बताकर आवारा फिरता रहा। मेरा छोटा भाई बलदेव मुझसे पाँच साल छोटा था। वह पढ़ने-लिखने में बड़ा तेज़ था। मेरी हरकतों से बाबू जी और मास्टर सभी तंग आ गये थे, पर बलदेव का झुकाव किताबों की ओर देखकर सब की जान में जान आई।

"मैं छुटपन से ही गँजेड़ियों और भँगेड़ियों के संग में रहकर मौजों में बहा करता था। बाबूजी मेरे चाल-चलन और रंग-ढंग से कैसे ही नाराज क्यों न रहे हों, पर उन्होंने कभी मेरे लिए किसी बात की कमी न होने दी। वह खुद ऐयाश-तबीयत आदमी थे, इसीलिए उन्होंने रुपये-पैसे की परवा कभी न की और जब मैं जो चीज उनसे चाहता, वह मुझे जरूर मिल जाती। मेरी मां मेरे बचपन में ही मर चुकी थीं, इसलिए बाबूजी मेरे मां-बाप दोनों ही थे।

"पिताजी की पूँजी भीतर ही भीतर किस क़दर खोखली होती चली जाती है, इस बात की मुझे कुछ भी ख़बर नहीं थी। अचानक एक दिन जब दिल की बीमारी से वह इस संसार से चल बसे तो मेरे ऊपर वज्र का पहाड़ टूट पड़ा। मुझे जब मालूम हुआ कि बाबूजी के ऊपर कई हज़ार का क़र्ज़ा चढ़ा हुआ है और अपना कहने को उनके पास कई महीनों से कुछ भी नहीं रह गया था। उनकी दिल की बीमारी का कारण क्या था, यह बात समझने में मुझे देर न लगी। पर अपने जीते-जी उन्होंने हम लोगों को ज़रा सी भी ख़बर इस बात की न होने दी कि उन पर कैसी बीत रही है। शायद वह इस आशा में थे कि किसी मौक़े से वह अपनी हालत सँभाल लेंगे।

"कुछ भी हो, अब सारे घर का भार पड़ा मेरे ऊपर। कुछ समय तक तो मैं सब रंग-ढंग देखकर ऐसा हक्का-बक्का रह गया कि मुझे ऐसा

विश्वास होने लगा कि मैं पागल हो जाऊँगा। पर बलदेव को मैं जी-जान से चाहता था और मैं नहीं चाहता था कि वह उस कच्ची उम्र में ही पढ़ना-लिखना छोड़कर नोन-तेल-लकड़ी की चिन्ता में लग जाय। मैंने कमर कसी और प्रण कर लिया कि जिस किसी भी उपाय से हो उसे बी० ए० तक पढ़ाऊँगा, बल्कि वकील बनाकर छोड़ूँगा। कल-पुर्जे के काम में मुझे पहले से ही दिलचस्पी थी। मिस्त्रियों के साथ गाँजा पीकर मैंने मोटर से लेकर छोटी से छोटी सभी कलों का काम थोड़ा-बहुत सीख लिया था। अब अच्छी तरह से सीखना शुरू कर दिया और निश्चय कर लिया कि इस पेशे में सबसे बाज़ी मारूँगा। भगवान् की कृपा से हुआ भी यही। जिसने एक बार मेरा काम देखा, उसने फिर कभी दूसरे मिस्त्री को न पूछा। शहर के सभी बड़े-बड़े साहबों और रईसों की मोटरें मुझी को ठीक करने के लिए मिलती थीं। मैं खुद आधा पेट खाकर बलदेव को अच्छा खाना खिलाता (उसके मन के मुताबिक़ खाना न मिलने से वह फेंक दिया करता था), भरसक बढ़िया कपड़े उसके लिए ख़रीदता; किताबों और फीस वग़ैरह का खर्चा तो लगा ही था।

"जब वह इण्ट्रेन्स पास करने के बाद इण्टरमीडिएट की भी पढ़ाई खतम कर चुका तो उसने लखनऊ जाकर बी० ए० पढ़ने का विचार किया। मैंने कई जोड़े बढ़िया-बढ़िया सूट सिलवाकर चमड़े का एक 'फर्स्ट किलास' सूटकेस, दो जोड़े फैशनदार जूते, एक होलडाल, बिस्तर का सब नया सामान खरीदकर और किताबों और पहले महीने की फीस के लिए करीब डेढ़ सौ रुपया उसके हवाले करके किसी भले आदमी के लड़के के साथ उसे लखनऊ भेज दिया। तब से हर माह मुझे साठ या सत्तर रुपये उसके लिए भेजने पड़ते थे। तब आज की सी महंगी न थी। मोटरों के अलावा मैं और भी तरह-तरह की मशीनों का काम अपने हाथ में लेने लगा और किसी तरह मर-मरकर ज्यादा से ज्यादा रुपया कमाने की कोशिश करता हुआ बलदेव की पढ़ाई का खर्चा जुटाने में लगा

रहता। बीच-बीच में उसे इन साठ-सत्तर रुपयों के अलावा सौ-पचास रुपया और भी भेजना पड़ता। कभी वह लिखता कि उसके कुछ रुपये चोरी हो गये हैं, कभी लिखता कि किसी लड़के ने उधार माँग लिये, फिर नहीं दिये, कभी लिखता कि इस महीने एक ख़ास चीज़ की पढ़ाई के लिए कुछ फीस और देनी पड़ेगी। पर मेरे पहचानवालों में से जो लखनऊ आते जाते थे; उनसे पूछने पर वे कहते कि वह बड़े ठाट से रहता है और सैर-सपाटे में अपने साथियों के साथ रुपये उड़ाता रहता है। मैं सोचता कि बुरा क्या है, यही तो बेचारे के मौज के दिन हैं। मैंने नशा-पानी एकदम कम कर दिया था, क्योंकि उससे एक तो काम कम हो पाता था, दूसरे बेकार का खर्चा बढ़ जाता था। मैं चाहता था कि अपने खाने-पीने और किराये के खर्चे में से जितना भी बचा पाऊँ, वह सब बलदेव के लिए भेज दूँ।

"कुछ भी हो, किसी तरह करते-कराते बलदेव ने बी० ए० पास कर लिया और इसके बाद वकालत के इम्तहान में भी वह पास हो गया। जब वह लखनऊ की पढ़ाई खतम करके घर वापस आया, तो मैं मारे खुशी के फूला न समाया। इच्छा होती थी कि उसे प्यार से जी भरकर गले लगा लूँ, पर उसका ठाट बाट और अपने को फटे हाल देखकर हिम्मत नहीं पड़ती थी।

"मैंने फौरन् उसके लिए एक योग्य लड़की खोजने का काम शुरू कर दिया। बड़ी दौड़-धूप के बाद बनारस में एक ऐसी लड़की का पता चला, जिसका रूप-रङ्ग देखकर उसी दम मेरे मन में यह बात समा गई कि दोनों की जोड़ी बहुत सुन्दर रहेगी। बड़ी धूमधाम से मैंने ब्याह किया। बहू जब घर आई तो मुझे ऐसा मालूम होने लगा, जैसे बरसों से उजड़ा हुआ मेरा घर बस गया। बलदेव सचमुच बहू को देखकर निहाल हो गया था और उसे सुखी देखकर मेरा मन मारे आनन्द के उछल पड़ता था। बहू जब मुझे देखकर घूँघट काढ़कर सर नीचा करके खड़ी रहती तो मेरा जी चाहता कि उसके दोनों पैरों पर गिड़गिड़ा पड़ूँ

औ उस साक्षात् लक्ष्मी माता से वरदान माँगूँ कि मेरा यह सुख जनम-जनम तक इसी तरह बना रहे। पर पैरों पर पड़ने की हिम्मत न पड़ती।

"हमारा शहर छोटा होने पर भी वहाँ वकीलों की तादाद इतनी बढ़ी हुई थी कि वकालत का पेशा एकदम चौपट हो गया था। बलदेव की तो यह हालत थी कि वह महीने में ५० ६० रुपये भी नहीं कमा पाता था, इतने से उसके पान-सिगरेट का खर्चा भी नहीं चलता था। पर मुझे इस बात का कोई दुःख नहीं था और मैं अपने प्यारे भाई और बहूरानी को भरसक सुखी रखने की पूरी कोशिश करता। मैं दिन-रात खटता था और इतना कमा लेता था, जितने से सारा कुटुम्ब बिना किसी चिन्ता के सुख से रह सके।

"ब्याह होने के डेढ़ साल बाद ही बहूरानी ने एक लड़के को जनम दिया। बड़ा प्यारा बच्चा था, बाबू साहब? उसका नाम रक्खा सुखदेव। पैदा होने के कुछ ही महीने बाद ही वह मुझसे ऐसा हिलमिल गया कि क्या बताऊँ। मुझे देखते ही पालने पर उछल पड़ता था और मेरे चुमकारने पर अपने दोनों होठों को खोलकर तानता और मुसकराकर खिलखिलाने की कोशिश करता और मुँह में उँगली डालकर अपनी तुतली बोली में न-जाने प्यार की कौन-सी बात मुझसे करता। उसने मुझे अपने मायाजाल में ऐसा जकड़ लिया बाबू साहब, कि काम से मेरा जी हटने लगा और चौबीसों घण्टे उसी को गोद में लेकर रहने को जी चाहता था। पर काम न करूँ तो घरवाले खायं क्या? लेकिन, विश्वास कीजिए, काम में मेरा जी अब बिलकुल नहीं लगता था और मैं चाहे किसी से बातें करता होऊँ, चाहे कोई काम करता होऊँ, उसी का मुसकराना, खिलखिलाना और तुतलाना मेरे मन को अनमना-सा बनाये रहता। क्या बताऊँ, भूत की तरह उसकी याद हर घड़ी मेरे मन को घेरे रहती। न जाने पूर्वजन्म का कौन वैर साधने वह मेरे घर आया था।

"जब काम में मेरा जी ही नहीं लगता था, तो यह बात मानी हुई समझ लीजिए कि मेरी आमदनी भी पहले से बहुत घट गई। अब मैं इस

बात की चिन्ता में लगा कि बलदेव को कहीं नौकरी मिल जाय। मैंने सोचा कि मैंने इतने दिनों तक कमाया-धमाया है और उसे पाल-पोसकर पढ़ा-लिखाकर इस लायक बना दिया है कि वह कहीं नौकरी करके मेरी परवरिश करे। मैं अब बुड्ढा हुआ जाता हूँ, इतने दिनों तक जी-तोड़कर मेहनत की, एड़ी-चोटी का पसीना एक किया है, अब कब तक? अब मैं सिर्फ अपने प्यारे भैया को, सुक्खू को लेकर उसे गोद में खेला-कर आराम से रहना चाहता हूँ।

"पर बलदेव में इतना बूता नहीं था कि वह अपने लिए खुद नौकरी ढूँढ़ता। हमारे शहर में एक पादड़ी साहब थे। उनकी मोटर अक्सर खराब हो जाया करती थी और मैं अक्सर बिना कुछ मजूरी लिये उसे ठीक कर दे ा था।

"वह मुझसे खुश थे। मैंने सुन रखा था कि बहुत-से बड़े-बड़े अँगरेज अफसर उन्हें बहुत मानते हैं। मैंने एक दिन जाकर उनके पाँव पकड़ लिये और कहा कि—मैं तब तक नहीं छोड़ूँगा, जब तक आप मेरा उद्धार न करेंगे। उन्होंने मेरी प्रार्थना सुनी और उनकी सिफारिश से लखनऊ में किसी सरकारी दफ्तर में बलदेव को नौकरी मिल गई। मैंने एक लम्बी साँस ली और एक दिन हमलोग बोरिया-बँधना लेकर लखनऊ को चल पड़े। मकबूलगञ्ज के पास एक गली में एक छोटा-सा मकान ५) किराये में मिल गया।

"मैंने पहले सोचा था कि लखनऊ जाकर अपना कारोबार नये सिरे से जमाकर खूब ज़ोरों में उसे चलाउँगा। पर बलदेव की नौकरी और सुक्खू के माया-मोह ने मुझे ऐसा निकम्मा और आलसी बना दिया कि मुझसे अब सिवा सुक्खू को खेलाने और गाँजा और चरस की दम लगाने के और कोई काम होता ही न था। बलदेव कुछ महीनों तक मुझे ५) माहवार देता रहा, बाक़ी सब रुपए वह बहू के हाथ में रख देता था और बहू हिसाब से खर्च करती थी। उतनी रक़म से मेरे

नशे पानी का खर्च नहीं चलता था। पर मैं घर से आते समय दो-तीन सौ रुपया एक पोटली में बाँधकर छिपाकर ले आया था। उसमें से भी जरूरत पड़ने पर निकाल लेता था।

"सुक्खू ज्यों-ज्यों महीने-महीने बड़ा होता गया, त्यों-त्यों वह मुझे अपने प्यार के माया-जाल में उलझाता गया। जब वह अपनी माँ के पास होता, तो वहीं से 'दाऊ! दाऊ!' कहकर मुझे आवाज देता और मेरे चुमकारने पर बात-बात में उसका वह खिलखिलाना! अभी तक उसके खिलखिलाने की प्यारी आवाज़ मेरे कानों में गूंजती रहती है। बाबू साहब, आप सच मानिए!

"जब वह रोता तो उसकी माँ उसे मेरे पास लाकर छोड़ जाती। मेरे पास आते ही वह शान्त हो जाता और सिसकते हुए अपनी माँ की शिकायत करता—'अम्माँ बली तलाब है, दाऊ! उससे मत बोलना!' मैं उसका मुँह चूमते हुए उसे दिलासा देता, उसे बाहर ले जाकर घुमा लाता और एक-आध सस्ता खिलौना खरीदकर उसके हाथ में दे देता। उसे गोद में लेते ही मुझे ऐसा मालूम होने लगता, जैसे मैंने यशोदा के हाथ से बालगोपाल को छीन लिया है और मैं अपने को एकदम सातवें स्वर्ग में पहुँचा हुआ पाता। कृष्ण की बाल लीला का एक फ़िल्म मैंने देखा था। उसी की याद मुझे आ जाती—खासकर जिस वक्त मैं चरस के नशे में या अफीम की पीनक में होता।

"एक दिन मैंने चरस ज़रा ज्यादा पी ली थी। सुक्खू को मैं बाहर टहलाने के लिए ले गया था। एक खिलौना खरीदकर उसके हाथ में देकर जब मैं उसे घर लाया, तो उसे गोद में लेकर जीने के ऊपर चढ़ने के समय मेरा सिर कुछ चकराने-सा लगा और हाथ-पाँव कुछ काँपने से लगे। पल-भर के लिए मैं कुछ अनमना-सा हुआ होऊँगा। मेरा हाथ कुछ ढीला पड़ा और एकाएक मैंने देखा कि सुक्खू मेरे हाथ से गिरकर ऊपर की सीढ़ी से नीचे की सीढ़ी पर पड़ा है। मैं

हड़बड़ाकर ज्योंही उसे पकड़ने लगा तो मेरे भी पाँव लड़खड़ायें और मैं उसे पकड़ दो सीढ़ी और नीचे गिरा। उसके नीचे सीढ़ी नहीं थी। उ की माँ ऊपर से दौड़ी चली आई। सुक्खू की नाक से बुरी तरह से खून बह रहा था और उसके घुटनों में भी चोट आई थी। वह बिलख-बिलखकर रो रहा था। उसका हाल देखकर मे ा कलेजा फटा जा रहा था। पर उसकी माँ ने आते ही मुझे ऐसी बेभाव की गालियाँ देनी शुरू की कि मैं मिट्टी में गड़ा जाता था। कहने लगी—'इस कलमुँहे अफ़ीमची का सत्यानाश हो, जिसे न अपनी सुध है, न बच्चे की। निखट्टू के करने को न कोई काम है न काज, साँड़ों की तरह अलमस्त बना फिरता है। मैं आज ही उनसे कह दूँगी कि मैं इसके साथ नहीं रह सकती, मैं मायके चली जाऊँगी।" उस दिन तक उसने मेरे सामने कभी एक बात भी मुँह से नहीं निकाली थी और हमेशा मुझसे पर्दा करती रही। पर उस दिन मौक़ा ही ऐसा आ पड़ा कि जो बात इतने दिनों तक उसने मन में छिपा रक्खी थी, वह भी निकल पड़ी।

"उस दिन मुझ पर दिन-भर कैसी बीती, यह भगवान् ही जानते हैं। शाम को जब बलदेव घर आया तो सुक्खू की माँ ने उससे सब बातें कह दीं। वह मुझ पर बुरी तरह बिगड़ा और डाट बताते हुए उसने कहा—'तुम आज ही मेरे घर से चले जाओ। मैं तुम्हें अब एक दिन के लिए भी अपने यहाँ नहीं रख सकता। सुक्खू की माँ ने मुझसे पहले ही कह दिया था, पर मैंने उसकी बातें नहीं सुनी और उसका यह नतीजा हुआ। तुम जहाँ चाहो रह सकते हो, पर मेरे यहाँ तुम्हारे लिए जगह नहीं है। जहाँ कहीं रहोगे वहाँ ५) माहवार भेज दिया करूँगा।'

"मुझे जैसे काठ मार गया हो। बहुत देर तक घुटनों के नीचे मुँह छिपाकर बैठा रहा इसके बाद एकाएक उठ खड़ा हुआ और बाहर चला आया। सुक्खू ने ऊपर से पुकारकर कहा—'दाऊ, मैं भी तुम्हारे साथ चलूँगा' उसे कोई गहरी चोट नहीं आई थी और

वह चङ्गा हो गया था। मैंने एक बार उसकी ओर देखा। मुझे रुलाई आ रही थी। आँखें पोछकर बिना किसी से कुछ कहे मैं वहाँ से चला गया।

"दो चार दिन एक धर्मशाले में पड़ा रहा। उसके बाद गँजेड़ियों का एक अड्डा ढूँढ़कर उनके पास चला आया। गँजेड़ियों में यह बात होती है कि उनमें आपस में बहुत जल्दी प्रेम हो जाता है, वे एक दूसरे के सुख-दुख के साझी बन जाते हैं। उन लोगों ने एक कच्चे मकान में मेरे पड़े रहने का उपाय कर दिया। मेरे पास जो रुपये बचे थे, उन्हीं को सहेज-सहेजकर ख़र्च करने लगा। अगर गाँजे तक ही बात रह जाती तो कोई हर्ज नहीं था, पर अफ़ीम की लत ने ऐसा जोर मारा कि मैं चौबीसों घण्टे पीनक में रहने लगा। खाना बाज़ार से ही लेकर खाता था। कभी अधपेट खाता, कभी बिना खाये ही पड़ा रहता। सुक्खू सब समय ख़याल में मेरी आँखों के आगे खड़ा मुसकराता रहता। एक पल के लिए भी मैं उसे भूल नहीं पाता था। बीच-बीच में हिम्मत बाँधकर उस गली से होकर जाता था, जहाँ बलदेव रहता था—सुक्खू को एक बार देखने की इच्छा से। सिर्फ़ एक दिन वह कोठे पर अपनी माँ के साथ दिखाई दिया। मुझे देखते ही उसने चिल्लाना शुरू किया—'दाऊ! दाऊ' मैंने एक बार ललककर उसकी ओर देखा और फिर बिना कुछ बोले भागकर चला गया।

"एक दिन इसी तरह मैं उसी गली से होकर जा रहा था—इसी आशा से कि सुक्खू को एक बार देख लूँ। जब उस मकान के पास पहुँचा तो मैंने देखा कि बलदेव कोठे पर खड़ा है। वह बहुत उदास दिखाई देता था। उसे देखकर मैंने तेजी से क़दम बढ़ाये। मैं आगे निकल जाना चाहता था। पर उसने ऊपर से पुकारा—'भैया! भैया?' पहले मैंने सोचा कि मेरे कानों को धोका हुआ है। पर जब मैंने

उसकी ओर देखा तो वह सचमुच हाथ के इशारे से मुझे बुला रहा था! मैं घबराया हुआ-सा उसके मकान की ओर लौटा। मेरे मन में शंका हो गई थी कि मामला जरूर कुछ गड़बड़ है। भीतर जाकर मैंने पूछा—'कहो, कुशल तो है? आज क्या दफ़्तर में छुट्टी है?'

"उसने बड़ी उदासी से धीमी आवाज़ में कहा—'अब पूरी छुट्टी मिल गई है। हमारे दफ़्तर से आठ दस आदमी अलग कर दिये गये हैं। मैं भी अलग हो गया हूँ।'

"मैं कुछ देर तक उसके मुँह की ओर ताकता रहा। मेरे सिर पर गाज-सी गिर पड़ी। उसने कहा—इधर दो दिन से सुक्खू को भी बुखार आया हुआ है। वह सब समय "दाऊ! दाऊ!" चिल्लाया करता है, जरा उसके पास हो आओ!' मुझे चक्कर आने लगा—ठीक उसी दिन की तरह जिस दिन सुक्खू को चोट आई थी। किसी तरह मैं अपने को सँभालकर बलदेव के साथ सुक्खू के पास गया। वह पलँग पर लेटा हुआ बुखार से छटपटा रहा था। उसकी माँ नीचे फ़र्श पर सिर नीचा किये बैठी थी। मैंने सुक्खू के पास जाकर कहा—'मेरे भैया! मेरे राजा बाबू!'

"वह कुछ देर तक मेरी ओर देखता रहा और फिर उसके तमतमाए हुए चेहरे में हँसी झलकने लगी। उसने उसी पहले की-सी प्यारी और तुतली आवाज़ में कहा—'दाऊ! मुझे बुखाल आ लहा है!' मैं रह न सका और मेरी आँखों से टपाटप आँसू गिरने लगे। उसने अपने दोनों हाथ मेरी ओर बढ़ाये। मैंने उसे चट से गोद में ले लिया और उसके मुँह से मुँह मिलाकर अपने आँसुओं से उसके गालों को भिगो दिया।

"बलदेव ने कहा—'इसका कोई इलाज नहीं किया जा रहा है। क्या करूँ, किसी डाक्टर को बुलाने के लिए पैसे कहाँ से लाऊँ!'

"मैंने उसी दम सुक्खू को पलँग पर लिटा दिया और डाक्टर को बुलाने चला गया। मेरे पास के भी रुपये सब खर्च हो चले थे, पर डाक्टर की एक बार की फ़ीस के लिए अभी कुछ रुपये बचे थे।

डाक्टर ने, आकर देखा और एक काग़ज़ के टुकड़े में दवा लिख दी। दवा लाकर मैंने बलदेव को दी। मैंने सोचा—'इस वक्त के लिए डाक्टर का और दवा का इन्तज़ाम तो हो गया, पर आगे क्या होगा!' सोचते-सोचते मेरे मन में और तन में एक भूत सा सवार हुआ और वही पुरानी ताक़त और .फुर्ती मुझमें लौट आई, जब मैं रात-दिन डटकर मशीनरी का काम करके बलदेव को कालेज में पढ़ाने का ख़र्चा जुटाया करता था। यह कहकर कि मैं रात को फिर आऊँगा, मैं बाहर चला गया। उसी दम कोई काम मुझे नहीं मिल सकता था। पर भगवान् की दया से मेरे मन में एक सूझ पैदा हुई। अपनी गठरी से दो एक औज़ार निकालकर मैं एक्कों और ताँगों के एक अड्डे पर चला गया, और वहाँ सस्ते रेट पर मैंने घोड़ों की नाल बाँधने का काम शुरू कर दिया। मैं देख चुका था कि बलदेव के पास अपने खाने को भी पैसा नहीं रह गया था। सुक्खू की माँ ने ज़रूर ही कुछ पैसे बचाये होंगे, पर यह जानी हुई बात थी कि उससे उस संकट की हालत में भी पैसा निकालना मुश्किल था। औरत की ज़ात का यह ख़ास गुण है, बाबू साहब! .खैर, नौ बजे रात तक काम करके मैंने दो-ढाई रुपये कमा लिये। इसी तरह तीन-चार दिन तक मैं घोड़ों की नाल बाँधकर दवा का ख़र्च निकालता रहा। जो पैसे बचा पाता, उनसे सुक्खू के लिए बढ़िया-बढ़िया खिलौने लेकर उसके पलँग पर सजाकर रख देता। वह बुख़ार से छटपटाने पर भी मेरे हाथ में खिलौने देखकर मुसकरा देता और मुझे प्यार करने के लिए उतावला हो उठता।

"मेरा एक चरसिया साथी भी मिस्त्री का काम करता था। उसकी कोशिश से मुझे कपड़े की मशीनों को ठीक करने का काम भी मिलने लगा। मैं वह काम भी करता और खाली होने पर घोड़ों की नाल भी बाँधता! अफ़ीम मैंने बहुत कम कर दी और दिन-रात काम की धुन में रहने लगा।

"पर सुक्खू की तबीयत अच्छी नहीं हो रही थी। वह छटपटाते हुए

कहता—'दाऊ, सिर में बड़ा दर्द हो गया है, अच्छा कर दो!' उफ़ क्या कहूँ बाबू साहब, अपना सिर फोड़कर भी उसका दर्द अच्छा कर सकता तो मैं जरूर वैसा ही करता। सभी तरह के उपाय किये, पर सब व्यर्थ गये।"

× × ×

मिस्त्री की आँखों से टपाटप आँसू गिर रहे थे। मैं स्तब्ध होकर यह करुण-कहानी सुन रहा था। मैंने पूछा—"तुम्हारे भाई का अब क्या हाल है ?"

उसने कहा—"मैंने फिर उन्हीं पादड़ी साहब के पैरों पर गिड़गिड़ाकर उन्हें अपना सारा हाल कह सुनाया। उनकी कोशिश से बलदेव को फिर दफ़तर में नौकरी मिल गई है। पर मैं अब इन लोगों के साथ नहीं रहता। पर मुझे यह सोचकर हँसी आती है कि एक दिन मैंने मशीन-वशीन का सब काम छोड़कर आराम से रहने का विचार कर लिया था! तब मैं क्या जानता था कि जिन्दगी भर मशीनों के चक्कर से मेरा पिण्ड छूटने का नहीं!" कहकर वह फिर रिञ्च पकड़कर मेरी सिंगर मशीन के रहे-सहे पुर्जों को अत्यन्त निर्ममता से उखाड़-उखाड़कर मिट्टी-तेलवाली शिलफ्‌ची में डालता गया।

रक्षित धन का अभिशाप

अवध के एक छोटे किन्तु प्रसिद्ध शहर के उत्तरी कोने में एक बहुत बड़ी कोठी है, जो नीली कोठी के नाम से विख्यात है। पुश्त-दर-पुश्त से इस कोठी के अधिकारी इसके बाहर की पुताई नीले रंग से ही कराते चले आए हैं, इसीलिये इसका उक्त नाम पड़ा है। कोई-कोई इसे शेरकोठी भी कहते हैं। प्रधान फाटक के दोनों ओर दो सिंह-मूर्तियाँ एक-एक गोले पर अपना पंजा जमाए खड़ी दिखाई देती हैं। इसीलिए लोगों ने उक्त कोठी का यह नामकरण भी कर दिया है। सन सत्तावन के ग़दर से भी बहुत पहले यह मकान बना था। कहा जाता है कि इस कोठी के वर्तमान नामधारी मालिकों के पूर्वजों ने ग़दर के समय अँग्रेजों को धन, जन और तन से सहायता दी थी और बहुत-सी मेमों और कुछ साहबों को उनके प्राण-संकट के समय इसी कोठी में आश्रय भी दिया था। इसके एवज में गदर समाप्त होने पर सरकार बहादुर ने इन लोगों को ख़िलअत के साथ एक खासी बड़ी जागीर भी बख्शी थी।

ठाकुर रणधीरसिंह का जन्म इसी प्रतापी वंश में हुआ था। कहा जाता है कि ठाकुर रणधीरसिंह के कुल का पूर्व इतिहास बड़े-बड़े वीरतापूर्ण घटना-चक्रों से पूर्ण रहा है। चन्देल राजपूतों के इतिहास से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। पीछे अवध के नवाबी युग में भी इस कुल के सपूतों ने राजनीतिक षड्यन्त्रों में विशेष भाग लेकर बड़ी प्रतिष्ठा पाई। वारेन हेस्टिंग्स से लेकर लार्ड डलहौजी के जमाने तक के सभी लार्डों को वे नवाबों के गुप्त रहस्यों का पता देते रहे—नवाबों का नमक खाते हुए।

कुछ भी हो, हम ठाकुर रणधीर सिंह की बात कर रहे थे। ठाकुर साहब का जन्म सन् १८४४ में हुआ था। अर्थात् गदर के समय आपकी अवस्था तेरह वर्ष की थी। हमारा परिचय उनसे तब हुआ था, जब

उनकी अवस्था ७५ और ८० के बीच की रही होगी। उनका व्यक्तित्व देखने ही योग्य था। स्वास्थ्य और रोब से तमतमाया हुआ चौड़ा कपाल, किसी विशाल पक्षी की चोंच के समान नुकीली नाक, सफेद भौंहों के नीचे गिद्ध के समान तीक्ष्ण दृष्टि वाली दो आँखें, ताँबे के रंगवाली गञ्जी चाँद के दोनों ओर सफेद बालों के दो चाँद, वृद्ध किन्तु मत्त मलंग के समान भारी भरकम शरीर और उसी की तरह झूमती हुई, धीर मन्थर चाल और उनके गले की आवाज़—! जब वह अपने किसी नौकर को चिल्ला-कर पुकारते तो मालूम होता जैसे कोई शेर दहाड़ रहा है। और जब ठठाकर हँसते तो ऐसा जान पड़ता था जैसे कोई पहाड़ टूट रहा हो। उनके गुरु-गम्भीर अस्तित्व मात्र से उस विशाल कोठी के सभी अधिवासी अकारण ही भय से कम्पायमान रहते। केवल अपनी कोठी के भीतर ही नहीं, सारे शहर की प्रतिष्ठित पुरुष-मण्डली के ऊपर भी उनकी खूब धाक जमी हुई थी। बिना उनके पास आकर उनकी सलाह लिए शहर वाले किसी भी सार्वजनिक कार्य में हाथ डालने का साहस नहीं करते थे। पर बिना काम के कभी कोई उनके पास जाने का साहस नहीं करता था, क्योंकि उनके भीमकाय व्यक्तित्व का भार क्षण-भर के लिये सहन करना कोई आसान काम नहीं था। फल यह होता था कि बूढ़े बाबा को अक्सर अपने रहस्यमय व्यक्तित्व की निराली दुनिया के भीतर अकेले चक्कर काटने लिए बाध्य होना पड़ता। अपने घरवालों से भी उनकी अधिक बातें नहीं होती थीं—आवश्यक काम की बातों को छोड़ कर।

कोठी के पश्चिमी कोने में सबसे नीचे के हिस्से में बुढ़ऊ रहा करते थे। आश्चर्य है कि इतनी बड़ी कोठी के मालिक होने पर भी ऊपर की मंजिलों के खुले हुए, हवादार, साफ और सुथरे कमरों को छोड़कर बूढ़े बाबा ने सबसे नीचे एक कोने में सील की बदबू से भरे हुए, अन्धकार-मय कमरे में रहना क्यों पसन्द किया! पर जब से उन्हें पेंशन मिली तब से वह बराबर (प्रायः तीस वर्ष से) इसी में रहते थे। यह बात भी कम

आश्चर्यजनक नहीं है कि बुढ़ऊ के स्वास्थ्य को इस घोर अस्वास्थ्यकर कमरे में इतने वर्षों तक रहने पर भी जरा भी ठेस नहीं पहुँची थी। पहले ही कहा जा चुका है कि वह अपने अन्धकारमय कमरे में अक्सर अकेले ही बैठे रहते और हुक्का गुड़गुड़ाते हुए उस बुढ़ापे में भी बिना चश्मे की सहायता के या तो हिन्दी का समाचार-पत्र पढ़ने में लगे रहते (अँग्रेजी वह बहुत कम जानते थे, यद्यपि अँग्रेज अफसरों के संसर्ग में उन्हें घनिष्ठ रूप से आना पड़ा था) या अपनी या अपने सगे-सम्बन्धियों की ज़मीन-जायदाद के हिसाब-किताब से सम्बन्ध रखनेवाले अथवा कुछ दूसरी तरह के ज़रूरी कागज़ात देखने में व्यस्त रहते। जिस कमरे में दिन-दहाड़े दिया जलाने की ज़रूरत पड़नी चाहिए थी, वहाँ वह तीसरे पहर भी खूब मजे में (और जैसा कि पहले कहा जा चुका है बिना चश्मे के) लिखने-पढ़ने का काम करते रहते।

ठाकुर साहब के पूर्व जीवन के सम्बन्ध में तरह-तरह के किस्से जनता में प्रचलित थे। इतना तो सबको निश्चित रूप से मालूम था कि पहले वह कुछ दिनों तक अवध के किसी जिले में पेशकार रहे थे और फिर तहसीलदार के पद पर नियुक्त कर दिये गये थे। पर कहा जाता था कि इस साधारण पद पर रहकर भी उन्होंने अपनी तहसील के लोगों पर अपने कूटचक्रों और निर्मम अत्याचारों के कारण आतंक फैला रक्खा था और सब त्राहि-त्राहि चिल्लाया करते थे। इनके वंश पर सरकार बहादुर की विशेष कृपा होने के कारण इनके घोर-से-घोर अत्याचार की शिकायत पर कोई सुनवाई नहीं होती थी। जमींदार और ताल्लुकेदार किसानों का रक्त चूसते थे और ठाकुर साहब के बारे में कहा जाता था कि वह इन लोगों का रक्त चूसते थे। खून के बहुत-से मामलों को वे इस तरह दबा दिया करते थे कि जानकारों को आश्चर्य हुए बिना न रहता। कई बार निर्दोष व्यक्तियों के ऊपर हत्या का दोष मढ़कर, प्रमाणों का ऐसा पक्का प्रबन्ध कर दिया कि उन्हें फाँसी पर चढ़ने से ब्रह्मा भी नहीं बचा सकता था। यह भी कहा जाता था कि उन्होंने कभी तो अर्थ के लोभ से और

कभी केवल व्यक्तिगत विद्वेष के कारण स्वयं बहुत-सी हत्याओं का षड्यन्त्र रचा था। उनकी इस प्रकार की और भी बहुत-सी करतूतों के किस्सों की यथार्थता में लोगों को पूरा विश्वास था और इसी विश्वास के आधार पर यह धारणा भी स्वभावतः लोगों के मन में बद्धमूल थी कि ठाकुर साहब ने अपनी नौकरी से लाखों रुपया जोड़ा है, उनके पूर्वजों द्वारा सञ्चित जो धन है, सो तो है ही।

ठाकुर साहब के दो लड़कों की मृत्यु छुटपन में ही हो चुकी थी। केवल एक लड़का और तीन लड़कियाँ शेष रह गये थे। उनके लड़के का नाम था बलवीरसिंह। ठाकुर बलवीरसिंह की बैठक बड़े ठाट से ऊपर के बड़े कमरे में जमती थी। उनके पूर्वजों ने युगों से तोहफ़ों और अजायबघर में रखने योग्य चीजों को जमा किया था। वे सब ठाकुर बलवीरसिंह के कमरे में सुसज्जित थीं। छोटे ठाकुर साहब में फ़िज़ूलख़र्ची की कोई ख़ास आदत न होने पर भी, अपने कुल की मान-मर्यादा की रक्षा के लिए उन्हें कभी-कभी अपने मित्रों को शराब पिलाना और कबाब खिलाना ही पड़ता था। इस तरह के ख़र्चों के लिए उन्हें बुढ़ऊ से रुपया माँगने की हिम्मत नहीं पड़ती थी। सच बात तो यह है कि उन्हें बुढ़ऊ से किसी बात के लिए भी कुछ कहने का साहस नहीं होता था। वह किसी ख़ास ही मौक़े पर—अनिवार्य आवश्यकता पड़ने पर ही, अपने पिता के पास जाते थे। अकारण ही वह अपने पिता से घबड़ाते थे। बूढ़े बाबा उन्हें वास्तव में बहुत चाहते थे और कभी एक दिन के लिए भी उन्होंने अपने एकलौते पुत्र से कोई कड़ी बात नहीं कही।

कुछ भी हो, ठाकुर बलवीरसिंह अपनी माँ के मार्फ़त बुढ़ऊ से रुपया ऐंठते थे और माँ के व्यक्तिगत धन पर भी हाथ साफ़ करते रहते।

लड़कियों के विवाह बूढ़े बाबा ने बड़ी धूमधाम से किए थे और

नाती-पोतों के जन्मोत्सव के अवसरों पर भी उन्होंने कई हज़ार रुपये खर्च किये थे। इन खर्चों के अलावा अपने चचाज़ाद भाइयों के लड़के-लड़कियों और नाती-पोतों के सम्बन्ध में भी उन्होंने कम खर्चनशीनी नहीं दिखाई। इन सब कारणों से तथा और भी कुछ अज्ञात कारणों से उनकी मुट्ठी कुछ समय से सिकुड़ने लगी थी और ठाकुर बलवीरसिंह के मित्र-भोजों पर भी इस सिकुड़न का खासा अच्छा असर पड़ने लगा था। बलवीरसिंह के मन में अकस्मात् अपने भविष्य के सम्बन्ध में एक अज्ञात आशंका-सी होने लगी थी। उन्हें इस बात का कुछ भी पता न था कि उनके पिता का अर्थ किस बैंक में, अथवा किन व्यक्तियों के पास अथवा किस बक्स में जमा है। उनकी ज़मीन-जायदाद के हिस्से कहाँ-कहाँ पर हैं और किन-किन ज़रियों से उन्हें अर्थ प्राप्त होता रहता है। न तो उन्हें अपने पिता से इस सम्बन्ध में कभी कुछ पूछने का साहस होता था, न कभी पूछने की कोई खास इच्छा ही हुई और न उनके पिता ने ही कभी उन्हें बताना चाहा।

पर बुढ़ऊ पहले से कुछ तंगहाल भले ही हो गए हों, किन्तु इस बात से उनके चेहरे पर चिन्ता की एक भी रेखा नहीं दिखाई दी और उन्होंने पूर्ववत् कभी दहाड़ना और कभी अट्टहास करना जारी रक्खा। अट्टहास वह उसी समय करते, जब अपने छोटे-छोटे नाती-पोतों को अपने पास बैठाकर हास-परिहास और स्नेह-प्रेम की बातें करते। बच्चों की इच्छा उनके पास रहने की न होने पर भी मिठाई के लोभ से कुछ समय तक वे नित्य उनके पास बैठते और खेलते थे।

इधर कुछ वर्षों से बुढ़ऊ को एक विचित्र आदत पड़ गई थी। वह रात में सोते हुए अकस्मात् पलँग पर से नींद की हालत में ही उठ खड़े होते और किसी अदृश्य और अज्ञात व्यक्ति अथवा व्यक्तियों को ललकारते हुए कहते "इधर आए नहीं कि तलवार से काट गिराऊँगा, गोली से मार डालूँगा।" यह कहते हुए अनाप-शनाप गालियाँ बकने लगते। सुबह जब उठते तो उन्हें रात की इस घटना की बिलकुल याद न रहती। जो लोग

उनके साथ घनिष्ठ रूप से परिचित थे वे जानते थे कि बुढ़ऊ के मन में बहुत सी बातें दबी हुई हैं जिन्हें वह अपनी गुरु-गम्भीर प्रकृति के कारण एक भी व्यक्ति के आगे व्यक्त करना नहीं चाहते और रात को वह जो बौड़मपन दिखाते हैं, वह मन के उसी दबाव की प्रतिक्रिया है।

एक दिन अकस्मात् बूढ़े बाबा को कुछ कमजोरी-सी मालूम हुई और वह पलँग पर लेट गए। पहले तो लोगों ने समझा कि साधारण-सी बात है, पर दूसरे दिन हालत और ज्यादा ख़राब दिखाई दी। वह कभी छाती में दर्द बताते और कभी गाँठों में, और कराहते हुए करवट बदलते रहते। डाक्टर ने ठाकुर बलवीरसिंह के कानों में चुपके से बताया कि बीमारी असाध्य है। उसने अँग्रेजी में उस रोग का एक निराला नाम भी बताया। छोटे ठाकुर साहब बहुत घबरा उठे। वह आज तक कुछ विचित्र भ्रम में पड़े हुए थे और वास्तविक भावना अपने मन के बहुत नीचे दबाकर इस झूठे विश्वास को जकड़े हुए थे कि उनके पिता की मृत्यु की घड़ी किसी अनिश्चित समय तक आ ही नहीं सकती। यद्यपि उनकी अवस्था चालीस वर्ष से ऊपर हो चुकी थी; तथापि वह अपने को एक अदना बच्चा ही समझना चाहते थे, और उनके इस असंगत विश्वास को आघात पहुँचने का कोई कारण भी आज तक नहीं आया था, क्योंकि कुटुम्ब की भीतरी बातों को उनकी माँ अच्छी तरह से सँभाले हुए थीं और बाहरी बातों को उनके पिताजी। आज अचानक एक जबर्दस्त धक्के ने उनकी आँखें खुलीं और वह इस बात के लिए अत्यन्त उत्कण्ठित और उतावले हो उठे कि अपने पिता से जमीन-जायदाद और रुपये-पैसे का सब हिसाब-किताब समझ-बूझ लें। पर वह उनसे कुछ कह न सके और बुढ़ऊ का होश-हवास दुरुस्त होते हुए भी उन्होंने किसी बात के सम्बन्ध में कोई सूचना देने का रुख नहीं दिखाया।

पर इस सम्बन्ध में उनकी माता उनसे भी अधिक उत्कण्ठित हो उठी थीं। वह रह न सकीं और उन्होंने मौका पाते ही बुढ़ऊ से कहा—"बेटे को सब हिसाब-किताब समझा बुझा दो।" बुढ़ऊ उत्तर में केवल कराहने

लगे। पर उनकी अर्द्धांगिनी उन्हें बार-बार इस बात के लिए तंग करने लगीं और ठाकुर बलवीरसिंह उनके बक्सों को टटोलने लगे। अपने भविष्य के स्वार्थ की चिन्ता में माँ-बेटा ऐसे व्यस्त हो उठे कि बुढ़ऊ के इलाज के सम्बन्ध में काफी लापरवाही होने लगी। एक बार माता-पुत्र एक ख़ास बक्स को खोलने में व्यस्त थे, जिसमें उन्हें पूरी उम्मेद थी कि सारे हिसाब का पता लग जायगा। मरणासन्न बुढ़ऊ के सामने उन्हीं के कमरे में यह सब काण्ड हो रहा था। वह अपनी शेष शक्ति का पूरा उपयोग करते हुए सहसा ऐसे जोरों से झल्लाते हुए चीख उठे कि दोनों चौंककर उनकी ओर देखने लगे। बुढ़ऊ ने काँखते हुए और कमजोरी और क्रोध से काँपते हुए कहा—"कमीनो! नालायको! तुम्हें मेरे इलाज का बिलकुल ही ख्याल नहीं है और अभी से मेरे मरने का निश्चय किए बैठे हो! मैं हरगिज नहीं मरूँगा। हरगिज नहीं! और न कभी तुम्हें इस जन्म में अपने हिसाब-किताब का कुछ भी पता लगने दूँगा!" यह कहकर वह जोरों से हाँफने लगे। उनकी रही-सही ताक़त जाती रही। उनके मुँह से कै के रूप में ख़ून निकलने लगा और प्रायः बीस मिनट बाद उनके प्राणपखेरू उड़ गए।

वास्तव में ठाकुर बलवीरसिंह को हिसाब किताब का कहीं कुछ भी पता न चला। सब बक्सों की ख़ाक छान डाली गई। काग़ज़ात बहुत-से मिले, पर उनके अपने काम का कोई न मिला। एक बक्स में ११६) पड़े हुए मिले। इसके अलावा कोई नकदी नहीं मिली। पिता के सञ्चित अर्थ का तो कोई पता न चला, पर कुछ ही समय बाद उन लोगों के नोटिस आने लगे, जिनसे उनके पिता ने कर्ज लिया था। धीरे-धीरे मालूम हुआ कि उनके पिता कई हजार रुपया कर्ज करके मरे थे। ठाकुर बलवीरसिंह माथा ठोंककर रह गए और मृत पिता को मन-ही-मन जी भरकर कोसने लगे, जिसने आज तक उन्हें इतने बड़े धोखे में रखा था। इस अप्रत्याशित वज्रपात को सहन करने की शक्ति वह अपने में नहीं पा रहे थे। अपने

प्रतिष्ठित कुल की परम्परागत मर्यादा की रक्षा कर सकना तो दरकिनार अब से अपने और अपने कुटुम्बीजनों के दो जून के भोजन का भी अच्छी तरह से प्रबन्ध हो सकना अब उन्हें कठिन दिखाई दे रहा था। वह सोचने लगे कि बुड्ढा न तो दानी ही था, न उसमें फिजूलखर्ची की ही आदत थी, पर कुल की मर्याद का उसे ख़याल था। उसने भरसक अपने जीते-जी अपने कुटुम्बीजनों और सगे-सम्बन्धियों को कभी दबी हुई हालत में रहने नहीं दिया, भले ही इस चेष्टा में उसे दूसरों का गला बड़ी बेरहमी से काटना पड़ा हो। उसके मरने के बाद उसके वंशवाले चाहे तबाह हो जायँ, चाहे जहन्नुम में जायँ, इस बात की चिन्ता उसने नहीं की। इतना स्वार्थी निकला वह! इस तरह की बातें सोचते सोचते ठाकुर बलवीरसिंह का सिर बुरी तरह भिन्नाने लगता और उन्हें ऐसा मालूम होने लगता, जैसे उनके मस्तिष्क की नसों के तार टूटना चाहते हों।

बुड्ढे के सब कमरों की ख़ाक छानने पर भी उन्हें कहीं एक भी टुकड़ा ऐसा नहीं मिला, जिससे उन्हें नाममात्र की भी सान्त्वना मिल सकती। पर कोई प्रमाण न होने पर भी उनके मन के किसी छिपे हुए कोने में यह अस्पष्ट सन्देह बना हुआ था कि बुढ़ऊ कहीं-न-कहीं कुछ-न-कुछ माल अवश्य छोड़ गए हैं। पर कहाँ? किस के पास?

कोई आशा न होने पर भी वह पागलों की तरह लगातार कई दिन तक अपने पिता के कमरा की दीवारों के रहस्यमय छिद्रों में उँगली डाल-डालकर किसी अज्ञात और महत्त्वपूर्ण कागज के टुकड़े की खोज में लगे रहे। कभी-कभी सारी रात खोजते-खोजते बीत जाती, पर फल कुछ न होता। रात को जब वह खोज में व्यस्त रहते तो बीच-बीच में उन्हें ऐसा प्रतीत होने लगता कि बुड्ढे की प्रेतात्मा अपनी चिर-परिचित आवाज में ठठाकर अट्टहास कर रही है, और वह चौंक उठते। तथापि उनके सिर पर एक ऐसे विचित्र पागलपन का भूत सवार हो गया था कि किसी भी बात का भय उनके मन में नहीं रह गया था।

दिन-दिन वह सूखकर काँटा होने लगे। घर से बाहर वह नहीं निक-

लते थे और न किसी से मिलते-जुलते थे। उन्होंने दाढ़ी बनानी भी छोड़ दी थी और उनके सिर के बाल बढ़कर जटाओं की तरह दिखाई देने लगे थे। पर उन्हें इन सब बातों की कोई चिंता न थी। वह अपनी कल्पना की एक निराली ही दुनिया में यक्षों और भूतों के साथ रहने लगे थे।

एक दिन अकस्मात् उनके मन में एक अनोखी प्रेरणा उत्पन्न हुई। उन्होंने सोचा कि उनके पिता लगातार इतने वर्षों तक उन अँधेरे कमरों में क्यों पड़े रहे? यह प्रश्न ठाकुर बलबीरसिंह के अज्ञात मन में शायद पहले भी कभी उठा हो, पर ज्ञात रूप से आज पहली बार यह उनके मन में उदित हुआ। और इस प्रश्न के उठते हुए एक अज्ञात प्रकाश उनके मन की आँखों के सामने चमक उठा। उन्होंने सोचा कि हो-न-हो, उन अँधेरे कमरों में से किसी एक में अवश्य ही बुढ़ऊ ने अपना संचित धन गाड़ रक्खा है। नहीं तो वह यक्ष की तरह वर्षों तक इन अँधेरे, गन्दे और अस्वास्थ्यकर कमरों पर पहरा क्यों देता रहा?

इस अद्भुत प्रेरणा से प्रेरित होकर उन्होंने उसी रात को इस बात का पता लगाने का निश्चय किया कि किस स्थान पर धन का गाड़ा जाना सम्भव हो सकता है।

बाहर जाने के दोनों किवाड़ों को भीतर से अच्छी तरह बन्द करके एक हाथ में लालटेन और एक हाथ में कुदाली लेकर वह सम्भव-स्थान की तलाश करने लगे। बाहर के कमरे में बुढ़ऊ लिखने-पढ़ने का काम किया करते थे। वहाँ धन के गाड़ने का सम्भावना नहीं के बराबर थी। बीचवाले कमरे में वह सोते थे। जिस स्थान पर उनकी चारपाई पड़ी रहती थी वहाँ से टाट और दरी हटाकर एक झाड़ू से फ़र्श को साफ़ करके उन्होंने बड़े गौर से देखना शुरू किया कि कई चिन्ह कहीं पर है या नहीं। कहीं कुछ अन्दाज़ नहीं आया। अन्त में वह सबसे पिछले कमरे में गए। अपने जीवन में शायद वह प्रथम बार आए होंगे। बुढ़ऊ जब जीवित थे तब भी यह कमरा हमेशा बन्द रहता था। फ़र्श के ऊपर टाट

तक नहीं बिछा हुआ था, न वहाँ गर्द ही दिखाई देती थी। बरसों से जमी हुई सील और मैल ने फ़र्श को कोलतार की तरह काला कर रखा था।

बड़े गौर से इधर-उधर देखते-देखते अकस्मात् एक स्थान पर उनकी आँखें किसी रहस्यमय आकर्षण-शक्ति द्वारा गड़ सी गईं। उस स्थान पर सील और मैल के ऊपर भी सिन्दूर से अङ्कित त्रिशूल का रक्त-चित्र स्पष्ट झलक रहा था। ठाकुर बलवीरसिंह के शरीर में और मन में एक उन्माद समा गया। उन्होंने कुदाली से उस स्थान को खोदना शुरू कर दिया। ऊपर की ईंटें निकालने में कुछ समय लगा। उसके बाद वह मिट्टी की तह पर तह खोदते गए। उन्हें न अपने तन की सुध थी, न बदन की। जाड़े के दिन होने पर भी वे पसीने से तर-बतर हुए जाते थे। खोदते-खोदते जब वह काफ़ी गहराई पर पहुँचे तो किसी धातु से निर्मित एक घड़े पर कुदाली की चोट पड़ी। हड़बड़ा कर उन्होंने घड़ा पकड़ा। उसके ऊपर का ढकना हटाकर भीतर हाथ डाला। देखा कि घड़ा सोने की मोहरों से भरा पड़ा था उन्माद के उल्लास से ठाकुर साहब का चेहरा जगमगा उठा। घड़े के पास उनके पैरों में काँटेदार लकड़ी की तरह कोई चीज गड़ी। उन्होंने उसे हटाना चाहा तो देखा कि किसी मनुष्य का अथवा किसी जानवर का अस्थिकंकाल-सा है। उनके मन में कुछ भय का-सा संचार हुआ। पर अधिक नहीं। वह चिल्लाना चाहते थे कि "मैंने पा लिया है! पा लिया है।" पर मन-ही-मन चिल्लाकर रह गए। उन्होंने घड़े का ढकना बन्द करके गढ़े को फिर से मिट्टी से भरना शुरू कर दिया। भरने के बाद ईंटों को पहले की तरह तरकीब से सजाकर इस ढंग से लगा दिया कि देखने पर मालूम भी नहीं पड़ सकता था कि उस स्थान को किसी ने खोदा है।

सब कुछ कर चुकने के बाद उन्होंने सन्तोष की एक लम्बी साँस लेनी चाही कि संचित धन उनके हाथ आ गया, अब वह जब चाहें उसका उपयोग कर सकते हैं। पर इसी समय उन्हें ऐसा मालूम होने लगा कि उन्हें गश आने को है। इतने परिश्रम के बाद वह बेतरह हाँफ रहे

थे; ऐसा मालूम होता था जैसे उनका अंग-अंग टूटने को हो और हृदय ऐसे जोरों से धड़क रहा था कि मालूम होता था जैसे अपने स्थान से हटकर पेट के नीचे गिरना चाहता हो। किसी तरह लड़खड़ाते हुए वह बाहर के कमरे में आए और वहीं दरी के ऊपर चारों खाने चित लेट गए।

दूसरे दिन उन्हें चारों तरफ खोजने के बाद जब दरवाज़ा तोड़कर लोगों ने भीतर आकर देखा तो वह सोने की मोहरों की तृष्णा से परे पहुँच चुके थे।

इस समय उनके दो लड़के जीवित हैं। उन्हें मोहरों के घड़े का हाल कुछ भी नहीं मालूम है। दोनों गरीबी की हालत में हैं और मुश्किल से दिन काट पाते हैं। मकान एक प्रकार से महाजनों का ही हो चुका है।

ठा॰ रणधीरसिंह इच्छा रहते हुए भी भाग्य के जिस षड्यंत्र वश अपने बेटे को घड़े का हाल न बता पाए, ठा॰ बलवीरसिंह भी उसी भाग्य की विडम्बना के कारण अपने बेटों को उसकी सूचना न दे पाए। न जाने किस आत्मा का अभिशाप उस संचित धन पर पड़ा हुआ था।

रोगी

मकान काफी बड़ा है। बाहर से बिलकुल स्तब्ध, जनहीन जान पड़ता है। पर भीतर प्रवेश करने से मालूम होता है कि उसमें आदमी रहते हैं। पर वे सब नीरव, निर्विकार और गंभीर दिखलाई देते हैं। नौकर-चाकर सब अपना-अपना काम कर रहे हैं, पर बिलकुल निःशब्द और मूकभाव से। कोई किसी के साथ बातें नहीं करता, एक दूसरे से कोई किसी विषय में कुछ पूछता नहीं। न कोई हँसता है, न कोई किसी से कुछ शिकायत ही करता है। जैसे किसी भूत के प्रबल शासन से सब स्तंभित-हृदय, भयविह्वल, मंत्र-चकित हो गए हों। उसकी कठिन शृङ्खला से आबद्ध होकर सब कठपुतलियों की तरह नियमपूर्वक नियत समय में, न जल्दी से न विलंब से, अपना-अपना कार्य किए जाते हैं। बीच-बीच में किसी शिशु-कंठ का क्रंदन इस परिपूर्ण निस्तब्धता को भंग कर देता है, जिससे इस भौतिक भीति से सन्न मकान में अधिक आतंक छा जाता है।

प्रात:काल का समय है। भीतर धूप से सुगंधित एक कमरे में कुछ देवी-देवताओं की धातु-निर्मित छोटी-छोटी मूर्तियाँ रक्खी हुई हैं। उनके सामने एक कुशासन पर एक वृद्ध पद्मासन मारकर आँखें मूँदे अत्यन्त ध्यानपूर्वक बैठे हैं। पास ही शंख-घंट, पंचपात्र, आचमनी, अर्घ्य, आरती का सामान, रोरी-चंदन आदि सुसज्जित रक्खे हुए हैं। ताजे फूलों का एक दोना भी दिखलायी देता है, जिसे अभी तक देवताओं का अंगस्पर्श-सुख प्राप्त नहीं हुआ है। वृद्ध महाशय मुदितनेत्र तो अवश्य हैं, पर इष्टदेव के ध्यान से जो एक स्निग्ध, शांत, प्रसन्नभाव मुख-मंडल पर व्यंजित होना चाहिए, उसका अभाव दिखायी देता है। बल्कि गहन चिंताओं की प्रगाढ़ रेखाएँ उनके क्लिष्ट कुंचित ललाट में सुस्पष्ट अङ्कित हो रही हैं।

इस कमरे को पार करके दाहिनी ओर एक प्रायः अन्धकारपूर्ण कमरा मिलता है। वहाँ एक पलने में एक दुधमुँहा बच्चा, जो कुछ ही महीनों का होगा, हाथ-पाँव पसारकर चित लेता हुआ ऊपर शून्य की ओर टुकुर-टुकुर ताक रहा है। शायद वह अभी भर पेट दूध पी चुका है। क्योंकि उसके हँसमुख में, उल्लास-भरी विस्मित आँखों में समग्र संसार के प्रति पूर्ण शांतिमय संतोष का भाव झलकता है। न-जाने शून्य के किस अलक्षित, अज्ञात दृश्य से बीच-बीच में हर्षाकुल होकर वह उमंग से अपने अङ्ग-प्रत्यग को हिलाने की चेष्टा करता है और एक पुलक-विकल अस्फुट कलध्वनि भी मुँह से निकालता है।

पलने के पास ही बैठी हुई युवती एक चार-पाँच साल के लड़के को कुछ खिला रही है। चीज क्या है, अँधेरे में ठीक जाना नहीं जाता, पर लड़का उसके स्वाद का पूर्ण मात्रा में उपभोग कर रहा है, यह उसके शांत मुख से स्पष्ट है। पर बीच-बीच में जब ग्रास की मात्रा कुछ कम पड़ जाती है, तो वह विरस कंठ से चिल्ला उठता है। उसका चिल्लाना इस गृहव्यापी निर्जनता को अत्यन्त निर्ममता से चीरता हुआ-सा प्रतीत होता है। युवती तत्काल भय-व्याकुल कंठ से फुसफुसाती है—"चुप! चुप!" और हाथ से बालक का मुँह बंद करने की चेष्टा करती है और तत्क्षण ग्रास का आकार डबल करके उसे खिलाने लगती है।

इस कमरे को पार करके बाईं ओर मुड़ने से जो कमरा मिलता है, उसमें एक वृद्धा एक कोने में जड़वत् बैठी हुई किसी घोर दुर्भावना से ग्रस्त-सी जान पड़ती है। वह कभी ज़मीन पर लेट जाती है, कभी उठ बैठती है। पर बैठने की शक्ति भी उसमें नहीं जान पड़ती, क्योंकि वह जब बैठती है तो दीवार पर पीठ अड़ाकर। फिर लेटती है, फिर उठकर बैठती है, फिर दीवार का सहारा लेती है। किसी तरह उसका अशांत चित्त स्थिर होता नहीं दिखाई देता।

वृद्धा के कमरे में कुछ देर शांत भाव से खड़े होने पर पास ही से

किसी के क्षीण स्वर से कराहने की आवाज़ सुनाई देती है। घड़ी के टिक-टिक की तरह ठीक नियत रूप से निरंतर वह क्लिष्ट शब्द कानों में गूँजता जाता है—"उँह-उँह, आँह-आँह, उँह-उँह, आँह-आँह।" और जिस प्रकार किसी घड़ी की कमानी या पेंडुलम कुछ ख़राब होने से टिक-टिक के साथ ही साथ बीच-बीच में अचानक "तड़ाक" शब्द सुनाई देता है, उसी प्रकार कराहने वाला बीच-बीच में कुछ देर खाँसकर "आह ! हा राम !" कहके चिल्ला उठता है।

सामने की ओर आगे बढ़कर किवाड़ खोलकर हम जिस कमरे में प्रवेश करते हैं, उसे देखते ही तत्काल मालूम हो जाता है कि सारे मकान का भार-केंद्र यहीं पर स्थित है—इसी के गुरुत्वाकर्षण में गृह के सभी निवासी विजड़ित हैं। एक विशेष प्रकार के उग्र, असह्य-गंध से कमरे का सारा वायुमंडल स्तंभित है। एक चारपाई पर एक शीर्णकाय रोगी पड़ा है। उसका रक्तहीन मुख सूरज की धूप से शुष्क, वायु से शोषित और वर्षा से धुले हुए अस्थि-खंड की तरह सफेद दिखलाई देता है। आँखें कोटर के भीतर बहुत नीचे धँस गई हैं, पर एक अस्वाभाविक उद्दीपन से चमक रही हैं। रूखे, घुँघराले बाल जटा की तरह भूरे और कठिन हो गये हैं। वक्षपंजर शुष्क कंकाल की तरह खड़खड़ाना ही चाहता है। हाथ-पाँव फैला कर चित अवस्था में लेटा हुआ वह ऊपर उलटी छत की ओर इस तरह ताक रहा है, जैसे इस विजातीय संसार से परे किसी प्रेत-लोक में अपना वास्तविक घर उसकी नज़र में पड़ गया हो। वह निरं-तर धीरे-धीरे, पर निश्चित गति से कराह रहा है और शून्य आँखों से ऊपर को ताक रहा है। बीच-बीच में कष्टपूर्वक खाँसकर सिरहाने के नीचे रक्खे हुए पीकदान में थूकता है और "हा राम !" कहके फिर उसी प्रकार लेटकर कराहने लगता है। चारपाई के पास एक स्टूल पर बैठी हुई एक युवती रोगी को पंखा कर रही है और साथ ही रोगी के मुँह पर बैठनेवाली मक्खियों को भी भगा रही है। चारपाई की दूसरी ओर मेज़ पर अनेक प्रकार की दवाओं की शीशियाँ रक्खी हुई हैं।

युवती की अवस्था प्रायः तेईस-चौबीस साल की होगी। वह एक सुंदर बनारसी साड़ी पहने है। शृंगार में कहीं किसी प्रकार की त्रुटि नहीं दिखलाई देती, सज-सँवरकर परिष्कार-परिच्छन्न होकर बैठी है। पर मुँह पर स्वभावतः म्लान, क्लांत छाया अंकित है। बहुत देर के अर्से में रोगी कभी एक बार उसके मुँह की ओर ताकता है, फिर तत्काल अत्यन्त विरस भाव से मुँह फिरा लेता है, जैसे भूल से वह उसकी ओर देख बैठा हो और करवट बदलने की चेष्टा करके अस्फुट शब्द में प्लुत स्वर में कराहता है—"आह !" जैसे वह किसी उत्कट भावना को बलपूर्वक दबाने की चेष्टा कर रहा हो।

अचानक रोगी ने कहा—"पानी पीऊँगा।"

क्लांत, कंपित कंठ से युवती ने पूछा—"क्या दूध लाऊँ ? इतने सबेरे बिना कुछ खाए हुए पानी नुक़सान करेगा।"

रोगी झुंझला उठा—"फिर बहस ! हरामज़ादी कहीं की। पानी लाती है तो ला, नहीं तो निकल मेरे सामने से !"

युवती थरथराती हुई उठी और पंखा छोड़कर लड़खड़ाते हुए पाँवों से पानी लाने चली गई। उसके जाते समय वायु की लहर से उसकी साड़ी के इत्र की सुगंधित महक रोगी के ब्रह्मरंध्र में जा लगी। उत्कट घृणा के वेग से, निरतिशय मानसिक व्यथा के पीड़न से, रोगी फिर एक बार चीख़ मार-कर कराह उठा और इस मृत्यु-शय्या में भी एक विकट हिंस्र भाव ने उसे धर दबाया। पर लाचारी के कारण वह दाँत पीसकर, जी मसोस कर रह गया और छटपटाने लगा।

रोगी का नाम सुंदरलाल है। फ़र्स्ट डिवीजन में एम० ए पास करके उसने पी० सी० एस० का इम्तिहान दिया था और उसमें सबसे प्रथम आया था। एक साल तक किसी नगर में डिप्टी कलक्टर होकर रहा। उसकी स्त्री श्यामा भी इस बीच उसी के साथ रही। बड़ा शांत, सुशील और मधुर स्वभाव का आदमी था। बुद्धि का प्रखर, मिलनसार

और ऐयाश तबीअत। ऐयाशी की मात्रा अधिक होने से अथवा वंशगत दोष के कारण उसे यक्ष्मा रोग ने पकड़ लिया। इसके पहले उसके दो बड़े भाई इसी रोग के शिका हो चुके थे। कुछ भी हो, श्यामा को साथ लेकर वह 'कंप्लीट रेस्-' के लिए घर चला आया।

श्यामा को उसने सच्चे दिल से कभी प्यार किया था या नहीं, इस सम्बन्ध में कुछ कहा नहीं जा सकता। पर यह सत्य है कि वह उसके साथ सदा हिलमिलकर रहता था और जी खोलकर बातें करता था। कभी कोई दुराव, कोई कपट उसके प्रति उसके व्यवहार में व्यक्त नहीं होता था। दोनों में सरल हास-परिहास बराबर होता रहता था। और काव्य-कला-विनोद भी। सुंदरलाल अपने कुल की पूर्वप्रथा के अनुसार उर्दू के ही रंग में रँगा हुआ था, पर श्यामा हिंदी वर्नाक्यूलर-परीक्षा पास करके आई थी। सुंदरलाल ग़ज़लों का फ़ौवारा छोड़ता तो वह कवित्तों की फुलझड़ियाँ। अधिकतर शृंगार-रस की ही चर्चा होती थी और इस नित्य नवीन प्रतीत होनेवाले विनोद की नौका से दोनों का प्रवासकालीन जीवन यौवन की प्रखर तरंगिणी में आनन्दपूर्वक बीत जाता था। पर जब धीरे-धीरे यक्ष्मा का मीठा विष अनजान में उसे दबाता जाता था, तो उस अज्ञात क्षीणावस्था में अकस्मात् उसे श्यामा पर किसी विशेष कारण से संदेह होने लगा। पर वह बड़ा घमंडी था, इसलिए अपने संदेह का इशारा तक उसने नहीं किया। फिर भी उसके हृदय का भाव श्यामा के प्रति स्पष्ट परिवर्तित होने लगा और वह अपनी मर्म-गत व्यथा का रुद्ध वेग किसी के आगे खोल न सकने के कारण भीतर ही भीतर व्यर्थ छटपटाने लगा। उसकी बीमारी बढ़ती ही गई। आखिर इस अवस्था में पहुँच गई, जिसमें इस समय उसे हम देख रहे हैं। जो वृद्ध महाशय ध्यानमग्न बैठे थे, वह उसके पिता थे। दो लड़के पहले ही गुज़र चुके थे और तीसरे की यह हालत देखकर वह निश्चेष्टा-वस्था में प्रायः सब समय ध्यानमग्न रहने लगे थे। ब्राह्मण देवता आकर नित्य पूजा-पाठ करते और वृद्ध महाशय आँखें मूँदे ही रहते। जो युवती

बच्चे को खिला रही थी, वह सुंदरलाल की बहिन थी और जो वृद्धा बग़लवाले कमरे में बैठी थी, वह उसकी मा थीं।

थोड़ी देर बाद श्यामा एक काँच के गिलास में पानी लेकर आई। सुन्दरलाल बड़ी कठिनाई से, अपनी स्त्री के सहारे से उठकर बैठा। पर ज्योंही उसने गिलास हाथ में लिया, उसका सारा शरीर काँप उठा और गह्वरगत म्लान आँखों से क्रोध और घृणा की चिनगारियाँ निकालकर वह अपनी स्त्री का सारा शरीर, सारी आत्मा जलाने लगा। श्यामा उस ज्वलंत दृष्टि की अग्नि को न सह सकी। थरथराते हुए उसने आँखें नीची कर लीं।

गिलास का पानी या तो सचमुच कुछ गँदला था या भ्रमवश, वहमी आँखों से सुन्दरलाल उसे गँदला देख रहा था। वह झिड़ककर कटु कंठ में बोला—"बेहया रंडी ! चल, निकल मेरे सामने से। नहीं तो यही गिलास तेरे सर में मार दूँगा।"

श्यामा कुछ देर तक द्विविधा में वहीं खड़ी रही। यथाशक्ति जोर से चिल्लाकर सुन्दरलाल ने कहा—जाती है या नहीं ?

गिलास लेकर श्यामा चली गई। सुन्दरलाल फिर पूर्ववत् कराहने लगा। थोड़ी देर बाद उसकी मा एक गिलास में पानी लेकर आई और अत्यन्त स्नेहपूर्वक बोली—"बबुआ ! पानी पियेगा ?" यह कहकर उसने सुन्दरलाल को उठाकर पानी दिया। इस बार वह बिना किसी एतराज़ के पी गया।

वृद्धा ने पूर्ववत् स्नेह-मधुर कंठ से पूछा—"बहू से क्या कोई क़सूर हुआ था ?"

"क़सूर की बात नहीं, अम्मा ! असल बात यह है कि मैं उसे अपने पास नहीं चाहता। उसे देखते ही मेरे सारे बदन में आग-सी लग जाती है। कारण मैं नहीं जानता। पर सच जानो, उसके मेरे पास रहने से मेरी बीमारी बढ़ेगी ही, घटेगी नहीं।"

और बेचारा नवीअन। ऐयाशी की मात्रा अधिक होने से अथवा वंशगत दोष के कारण उसे यक्ष्मा रोग ने पकड़ लिया। इसके पहले उसके दो बड़े भाई इसी रोग के शिका हो चुके थे। कुछ भी हो, श्यामा को साथ लेकर वह 'कंप्लीट रेस्ट' के लिए घर चला आया।

श्यामा को उसने सच्चे दिल से कभी प्यार किया-या नहीं, इस सम्बन्ध में कुछ कहा नहीं जा सकता। पर यह सत्य है कि वह उसके साथ सदा हिलमिलकर रहता था और जी खोलकर बातें करता था। कभी कोई दुराव, कोई कपट उसके प्रति उसके व्यवहार में व्यक्त नहीं होता था। दोनों में सरल हास-परिहास बराबर होता रहता था। और काव्य-कला-विनोद भी। सुंदरलाल अपने कुल की पूर्वप्रथा के अनुसार उर्दू के ही रंग में रँगा हुआ था, पर श्यामा हिंदी वर्नाक्यूलर-परीक्षा पास करके आई थी। सुंदरलाल ग़ज़लों का फ़ौवारा छोड़ता तो वह कवित्तों की फुलझड़ियाँ। अधिकतर शृंगार-रस की ही चर्चा होती थी और इस नित्य नवीन प्रतीत होनेवाले विनोद की नौका से दोनों का प्रवासकालीन जीवन यौवन की प्रखर तरंगिणी में आनन्दपूर्वक बीत जाता था। पर जब धीरे-धीरे यक्ष्मा का मीठा विष अनजान में उसे दबाता जाता था, तो उस अज्ञात क्षीणावस्था में अकस्मात् उसे श्यामा पर किसी विशेष कारण से संदेह होने लगा। पर वह बड़ा घमंडी था, इसलिए अपने संदेह का इशारा तक उसने नहीं किया। फिर भी उसके हृदय का भाव श्यामा के प्रति स्पष्ट परिवर्तित होने लगा और वह अपनी मर्मगत व्यथा का रुद्ध वेग किसी के आगे खोल न सकने के कारण भीतर ही भीतर व्यर्थ छटपटाने लगा। उसकी बीमारी बढ़ती ही गई। आखिर इस अवस्था में पहुँच गई, जिसमें इस समय उसे हम देख रहे हैं। जो वृद्ध महाशय ध्यानमग्न बैठे थे, वह उसके पिता थे। दो लड़के पहले ही गुज़र चुके थे और तीसरे की यह हालत देखकर वह निश्चेष्टावस्था में प्रायः सब समय ध्यानमग्न रहने लगे थे। ब्राह्मण देवता आकर नित्य पूजा-पाठ करते और वृद्ध महाशय आँखें मूँदे ही रहते। जो युवती

बच्चे को खिला रही थी, वह सुंदरलाल की बहिन थी और जो वृद्धा बग़लवाले कमरे में बैठी थी, वह उसकी मा थीं।

थोड़ी देर बाद श्यामा एक काँच के गिलास में पानी लेकर आई। सुन्दरलाल बड़ी कठिनाई से, अपनी स्त्री के सहारे से उठकर बैठा। पर ज्योंही उसने गिलास हाथ में लिया, उसका सारा शरीर काँप उठा और गह्वरगत म्लान आँखों से क्रोध और घृणा की चिनगारियाँ निकालकर वह अपनी स्त्री का सारा शरीर, सारी आत्मा जलाने लगा। श्यामा उस ज्वलंत दृष्टि की अग्नि को न सह सकी। थरथराते हुए उसने आँखें नीची कर लीं।

गिलास का पानी या तो सचमुच कुछ गँदला था या भ्रमवश, वहमी आँखों से सुन्दरलाल उसे गँदला देख रहा था। वह झिड़ककर कटु कंठ में बोला—"बेहया रंडी! चल, निकल मेरे सामने से। नहीं तो यही गिलास तेरे सर में मार दूँगा।"

श्यामा कुछ देर तक द्विविधा में वहीं खड़ी रही। यथाशक्ति जोर से चिल्लाकर सुन्दरलाल ने कहा—जाती है या नहीं?

गिलास लेकर श्यामा चली गई। सुन्दरलाल फिर पूर्ववत् कराहने लगा। थोड़ी देर बाद उसकी मा एक गिलास में पानी लेकर आई और अत्यन्त स्नेहपूर्वक बोली—"बबुआ! पानी पियेगा?" यह कहकर उसने सुन्दरलाल को उठाकर पानी दिया। इस बार वह बिना किसी एतराज़ के पी गया।

वृद्धा ने पूर्ववत् स्नेह-मधुर कंठ से पूछा—"बहू से क्या कोई क़सूर हुआ था?"

"क़सूर की बात नहीं, अम्मा! असल बात यह है कि मैं उसे अपने पास नहीं चाहता। उसे देखते ही मेरे सारे बदन में आग-सी लग जाती है। कारण मैं नहीं जानता। पर सच जानो, उसके मेरे पास रहने से मेरी बीमारी बढ़ेगी ही, घटेगी नहीं।"

अम्मा ने छोटे बच्चे की तरह उसे पुचकारते हुए कहा—"नहीं लल्ला, ऐसी बात न कहो। बेचारी असहाय है, रोती है। जी-जान से तुम्हारी टहल कर रही है। पतिव्रता स्त्री है। एक पल तुम्हें छोड़ने से चैन नहीं पाती। उसे रुलाना अच्छा नहीं, बबुआ!" यह कहकर दरवाज़े की तरफ मुँह करके बोली—"आओ बहू, सुंदर को पंखा करो।"

बहू शायद दरवाज़े के पास ही छिपी हुई खड़ी थी। मंथर, कंपित गति से आई, और पंखा पकड़कर झलने लगी। सुन्दरलाल ने एक बार उसकी ओर देख, एक लम्बी साँस लेकर, कुछ न कहकर करवट बदली। उसकी पीठ श्यामा की तरफ हो गई। मन में सोचने लगा—"कोई नहीं समझेगा। अम्मा को क्या समझाऊँ? उफ़! पर उसकी नाक! दिन-दिन ज्यादा नुकीली होकर आगे को क्यों बढ़ती जाती है? कितनी कोशिश करता हूँ कि उससे अच्छी तरह से बातें करूँ, भली भाँति पेश आऊँ, पर फिर वही नाक नज़र आ जाती है! अच्छा, लोग क्यों कहते हैं कि वह देखने में बड़ी सुन्दर है? क्यों सभी पुरुष उसे लोलुप दृष्टि से देखते हैं। आश्चर्य है। मज़ा यह है कि वह भी समझती है कि वह सुन्दरी है। इसलिए यह शृङ्गार—" वह अधिक न सोच सका। सर भन्नाने लगा।

अम्मा थोड़ी देर वहाँ बैठकर फिर चली गईं। डाक्टर का हुक्म था कि रोगी के कमरे में ज्यादा भीड़ न होनी चाहिए। श्यामा को छोड़कर और किसी को अधिक समय तक वहाँ बैठने की इजाज़त नहीं थी।

थोड़ी देर के बाद सूट-बूट और सोला हैट पहने, हाथ में रबर की नली लिए डाक्टर साहब हाज़िर हुए। डाक्टर को देखकर श्यामा अलग हट गई। सुन्दरलाल ने करवट नहीं बदली, उसी तरह स्थिर लेटा रहा, पर कनखियों से श्यामा के हाव-भाव देखने लगा। उसकी आँखें डाक्टर की ओर लगी हुई थीं। साधारण मनुष्य की दृष्टि में इस अवस्था में यह कोई अस्वाभाविक बात नहीं थी, पर सुन्दरलाल के कलेजे को जैसे कोई

आग में तपाई हुई, लोहे की लाल-लाल छड़ी से आघात करता हो, उसे ऐसा मालूम हो रहा था। वह सोच रहा था—"कैसी झूठी, घृणित वेदना वह अपने चेहरे से व्यक्त कर रही है! इस दुःखभरी दशा की आड़ में वह अनुकूल समय पाकर जी भरकर डाक्टर को देख रही है। शायद यह बुद्धू डाक्टर भी समझता है कि वह मेरे लिए सचमुच व्यथा से बेकल है। पर यह भी कैसे कहा जाय ?"

"क्यों सुन्दर कैसी तबीयत है ? आज टेम्परेचर लिया था ?"

डाक्टर की ओर बिना देखे ही सुन्दरलाल ने उत्तर दिया—"नहीं, मैं अब टेम्परेचर लूँगा नहीं, सब फ़जूल है।"

आश्चर्य का भाव दिखाकर, स्नेह-भरे तिरस्कार के स्वर में डाक्टर ने कहा—"यह क्यों ? वाह, भई वाह ! तुम भी कैसे अजीब आदमी हो ! यह भी कभी हो सकता है ? लो, लगाओ !" यह कहकर मेज़ पर से थर्मामीटर उठाकर, हाथ से उसे एक झटका देकर, उसका पारा देखकर, एक साफ कपड़े से पोंछकर उसने सुन्दरलाल को दिया। उसके मीठे तिरस्कारों में न मालूम क्या जादू था, सुन्दरलाल ने बिना किसी एतराज़ के थर्मामीटर ले लिया और मुँह में लगाया।

डाक्टर का नाम भगवतीचरण था। वह सुन्दरलाल के बाल्य सखा थे। बिना किसी फीस के, अपनी निजी इच्छा से, यथाशक्ति सुन्दरलाल की चिकित्सा कर रहे थे। सुन्दरलाल से उनका घनिष्ठ प्रेम था और आरंभ में सुन्दरलाल उनके आगमन से अत्यन्त आनंदित होता था। पर धीरे धीरे उसकी दुर्बलता जब बढ़ने लगी और हृदय तथा मस्तिष्क काबू में नहीं रहे, तो वह डाक्टर को देखते ही जलने लगा। डाक्टर साहब तन्दुरुस्त, फुर्तीले, चालाक, चुस्त आदमी थे; उनकी चाल में मद था, कंठ-स्वर में जीवन था, रोब था और अधिकार था। स्त्री की आभ्यंतरिक भावनाओं को जानने की चेष्टा करते हुए सुन्दरलाल को अब

ऐसा जान पड़ने लगा था कि उत्साह और उमंग से भरे हुए इस आदमी की ओर उसका चंचल हृदय अवश्य ही झुक गया है।

डाक्टर के कहने पर थर्मामीटर उसने लगाया तो अवश्य, पर यह भावना उसके हृत्पिंड पर निर्दय प्रहार करने लगी कि उसकी स्त्री के सामने ही इस डाक्टर का जादू उस पर असर कर गया। उसने एक बार फिर श्यामा की ओर देखा। वह सिर कुछ नीचा किये थी, पर तिरछी आँखों से एक बार उसकी ओर ताकती थी, एक बार डाक्टर की ओर। उसकी आँखों में कैसा उल्लास छलक रहा था! इसका कारण निश्चय ही डाक्टर की विजय थी। उसने सोचा कि उसकी ओर वह भय से ताक रही है और डाक्टर की ओर—अगाध हर्ष से! डाक्टर भी बीच-बीच में श्यामा की ओर दृष्टि फेर रहा था। उसे ऐसा मालूम होने लगा, जैसे ये दोनों मिलकर किसी इंद्रजाल की माया से उसकी आँखों में धूल झोंककर उसकी सेवा के बहाने दिन-दिन घनिष्ठता की ओर पाँव बढ़ाते जाते हैं, और मन में एक दूसरे से कह रहे हैं—जो आदमी आज नहीं तो कल मर जायगा, उससे तुम्हारा-हमारा क्या सम्बंध है? हम तो जीते रहेंगे। तब आओ, आओ, नए मिलन का आनन्द लूटें।"

इस दुस्सह भावना से वह छटपटाना चाहता था, पर थर्मामीटर मुँह में था। डाक्टर ने घड़ी देखी। तीन मिनट हो चुके थे। थर्मामीटर मुँह से निकालकर उन्होंने देखा, १०३ डिग्री ताप था।

इसके बाद डाक्टर ने उसे धीरे-धीरे दवा पिलाई। श्यामा को रोगी के सम्बन्ध में दो-चार हिदायतें देकर, सुन्दरलाल से दिलासे की बातें करके विदा होने लगे। सुन्दरलाल ने देखा, कमरे को छोड़ते समय एक बार भरी दृष्टि से डाक्टर ने श्यामा को देखा और श्यामा ने उसको। आँखों की भाषा से वे दोनों मौखिक भाषा से भी अधिक स्पष्ट रूप में एक दूसरे को अपने दिल की हालत समझा रहे थे।

डाक्टर के चले जाने पर सुन्दरलाल ने बड़ी मुश्किल से करवट

बदली। उसके रोम-रोम में असह्य घृणा और ईर्ष्या की ज्वाला के कारण स्फूर्ति और चैतन्य के भाव का संचार होने लगा। जी करता था कि उठकर अपनी मायाविनी दुष्टा स्त्री की गर्दन पकड़कर दबोच डाले और उसके मुँह पर थूककर पूरी तबीयत से गालियाँ दे। पर हाय! उठने की शक्ति कहाँ? यह केवल शारीरिक तथा मानसिक ज्वरजनित जर्जरता थी, वास्तविक स्फूर्ति नहीं। हे भगवान्! इस अनन्त यंत्रणा से कब छुटकारा होगा? इस मुर्दा दिल की धुकधुकी शीघ्र बन्द क्यों नहीं हो जाती" वह कराहने लगा।

उसकी मा ने चुपके से आकर श्यामा से मृदु कंठ से पूछा—"डाक्टर क्या कह गया है बहू?"

अपनी अम्मा का स्नेहपूर्ण कंठ सुनकर सुन्दरलाल की आँखें डबडबा आईं। सब क्लेशों को कुछ क्षण के लिए भूल कर उसे इच्छा हुई कि बच्चों की तरह मा की गोद में मुँह छिपाकर स्नेह-स्पर्श के सुख का अनुभव करे।

— —

एक शराबी की आत्मकथा

सुकुलजी, आप जानते हैं कि हम दोनों व्यक्ति इस समय शराब पिए हुए हैं और पूरी तरह से तरंग में हैं। शराबियों की मण्डली में बैठकर भी जो व्यक्ति शराब नहीं पीता, वह एक विजातीय जीव-सा लगता है और उसके वर्तमान रहने से रंग में भंग होने का डर रहता है। पर चूँकि आप स्वभावतः मनमौजी हैं और साथ ही सहृदय भी हैं, इसलिये आपके संग में हम लोग विशेष असुविधा का अनुभव नहीं करते। फिर भी, आप चाहे अपने विचारों में कैसे ही उदार क्यों न हों, यह निश्चय है कि अपने अनजान में या तो हम लोगों से घृणा करते होंगे या हमारे पतन से दुःखित होकर हमें दया की दृष्टि से देखते......देखिये, कृपा करके इस समय बीच में मेरी कोई बात न काटिए। आज मैं विशेष रूप से आपसे प्रार्थना करना चाहता हूँ कि मेरी बात को पूरी तरह आदि से अन्त तक सुनने की कृपा करें, और चाहे कोई बात आपको अप्रिय, असंगत या अरुचिकर क्यों न मालूम हो, तो भी आप बिना किसी प्रश्न के चुपचाप सुनते चले जायँ, क्योंकि मैं आज पूर्ण रूप से तरंगित हूँ, और केवल एक दिन के लिए आप मुझे मनमाने तौर से अपनी मौज में रहने दीजिए।

शराबी के प्रति किसी समझदार व्यक्ति के मन में घृणा अथवा दया का भाव उत्पन्न होना स्वभाविक है। क्यों न हो, जब कि लोग शराबियों की दुर्गति अपनी आँखों से देखते रहते हैं। नाई, धोबी, चूड़े-चमार सभी शराब पीते हैं और पीने पर बदहवास होकर वे लोग जिस प्रकार की नग्नता प्रदर्शित करते हैं, वह किसी से छिपी नहीं है। सभ्य और सुशिक्षित लोगों को भी शराब के फेर में पड़कर शारीरिक, नैतिक और सांसारिक, सभी दृष्टिकोणों से तबाह होते देखा गया है।

यही कारण है कि सभ्यता के आदिम युग से लेकर वर्तमान समय तक सभी नीतिज्ञ शराबखोरी की निन्दा एक स्वर से करते आए हैं। पर साथ ही यह बात भी आपसे छिपी न होगी कि प्राचीनतम काल से लेकर आज तक ऐसे व्यक्तियों की कमी नहीं रही है, जो सभ्यता और संस्कृति के उच्चतम स्तर से सम्बन्ध रखने पर भी जान-बूझकर शराब के शिकार बने हैं। इस अदम्य आकर्षण का अवश्य ही कोई ज़बर्दस्त कारण होना चाहिए। मेरी बात के रुख़ से आप समझ गए होंगे कि मैं शराबियों की तरफ़ से वकालत करना नहीं चाहता हूँ। फिर भी अपने किसी अनुभव से एक ऐसे सत्य से आपको परिचित कराने की इच्छा रखता हूँ, जिसकी ओर से अधिकांश व्यक्ति आँखें बन्द किए रहते हैं।

दुनिया यह मानती चली आई है कि शराबखोरी नैतिक पतन की चरम निशानी है। इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण जब लोगों को मिलते रहते हैं, तो इसके विरुद्ध कुछ कहना दुस्साहस का काम होगा। मैं भी अधिकांश व्यक्तियों के सम्बन्ध में इस तथ्य को अस्वीकार नहीं करना चाहता। फिर भी आप विश्वास करें चाहे न करें—अपने व्यक्तिगत अनुभव से मैं इस विचित्र परिणाम पर पहुँचा हूँ कि शराब मनुष्य के अन्तर की उन उन्नत और महत् मनोवृत्तियों को जगा देती है, जो साधारण अवस्था में सांसारिक प्रवृत्तियों के भार से दबी रहती हैं। पर नहीं, ज़रा ठहरिए, मैं ठीक तरह से अपने विचार को आपके सामने रख नहीं पाया हूँ। मैं यह कहना चाहता हूँ कि प्रत्येक मनुष्य के भीतर अनेक प्रकार की प्रवृत्तियों का सम्मिश्रण पाया जाता है। साथ ही यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि प्रत्येक व्यक्ति की प्रकृति के रहस्य-चक्र में इन सम्मिश्रित प्रवृत्तियों में से कुछ विशेष चुनी हुई प्रवृत्तियाँ प्रधान स्थान ग्रहण कर लेती हैं। साधारण अवस्था में ये प्रधान प्रवृत्तियाँ कभी नीचे दब जाती हैं, कभी बीच में आ जाती हैं, कभी इस कोने में चली जाती हैं और कभी उस कोने में। पर शराब की यह विशेषता है

कि उसकी मादकता से वे प्रधान प्रवृत्तियाँ एकदम ऊपर की सतह पर तैरने लगती हैं और दूसरी प्रवृत्तियों को वह नीचे दबा देती है। यह प्रश्न दूसरा है कि किस मनुष्य की प्रधान प्रवृत्तियाँ कैसी हैं। किसी की हिंसक, किसी की विद्वेषपूर्ण, किसी की कुटिल और किसी की सुन्दर और महत् हो सकती हैं। जिस व्यक्ति की मूल प्रवृत्तियाँ सुन्दर और महत् होंगी वे शराब के नशे की हालत में सुन्दरतम रूप धारण कर लेंगी, यह निश्चित है। पर शायद मैं अब भी अपनी बात ठीक तरह से नहीं समझा पाया हूँ।

कुछ भी हो, मैं अपने अनुभव के सम्बन्ध में आपसे कहना चाहता था। मेरा अनुभव यह है कि जब मैं शराब पीता हूँ तो अपने मनोलोक के उच्चतम शिखर पर पहुँच जाता हूँ और मेरी सारी आत्मा में त्रिगुणातीत आनन्द का सा एक ऐसा सौम्य सरस भाव व्याप्त हो जाता है कि संसार की प्रतिदिन की तुच्छ लौकिकता का अस्तित्व मेरे लिए नहीं रह जाता।

मैंने शराब पीना कुछ ही महीनों से सीखा है। अक्सर यह कहा जाता है कि लोग कुसंग में पड़कर शराब पीना सीखते हैं और पतन के मार्ग में प्रवेश करने के लिए ही शराब पी जाती है। पर मेरा अनुभव इन दोनों तथ्यों के बिलकुल विपरीत रहा है। मैंने कुसंग में पड़कर नहीं, बल्कि ऐसे अच्छे व्यक्ति के संग में शराब पीना सीखा है, जिसकी सहृदयता और सच्चरित्रता मुझे अनुपम और अतुलनीय मालूम हुई है। शराब मुझे पतन की ओर नहीं ले गई है, बल्कि इसने मुझे पतन के गहन गर्त में विलीन होने से बचाया है। इस सम्बन्ध में अपने जीवन-इतिहास का जो एक छोटा-सा परिच्छेद आपको सुनाना चाहता हूँ, उससे आपको मेरे कथन की वास्तविकता का पता चल जायगा। पर इसके पहले मैं अपने प्रारम्भिक जीवन की स्थिति पर थोड़ा सा प्रकाश डालना उचित समझता हूँ।

× × ×

मैं अपने पिता का एकमात्र पुत्र हूँ। पिताजी के दो भाई और थे। दादा मरने पर इतनी सम्पत्ति छोड़ गए थे कि तीनों भाइयों की गुजर उससे बड़े मजे में हो सकती थी। पर दादा के मरते ही ऐसा पारिवारिक कलह शुरू हुआ कि मेरी अवस्था बहुत छोटी होने पर भी उन दिनों की एक-एक घटना मेरे मस्तिष्क में इस समय तक स्पष्ट रूप से अंकित है। दादा तीनों भाइयों को मिलकर सम्मिलित परिवार के रूप में रहने का उपदेश दे गए थे, पर स्त्रियों की प्रलयंकरी बुद्धि के षड्चक्र का यह भयावह परिणाम हुआ कि तीनों भाई एक दूसरे के जानी दुश्मन बन गए और रात-दिन द्वन्द्व और कलह के विकट कोलाहल ने मेरी आत्मा में एक भौतिक लोक का आतंक जमा दिया। कुछ समय बाद सम्पत्ति का बँटवारा हो जाने पर तीनों भाई अलग हो गए। अलग होने के एक वर्ष बाद माताजी की मृत्यु हो गई। पिताजी का विचार न होने पर भी बिरादरी के कुछ कुचक्रियों ने मिल कर उनका दूसरा विवाह करा दिया। उस समय उनकी अवस्था ३६ वर्ष की थी। मेरी आयु तब १५ वर्ष की थी और मुझसे छोटी मेरी एक बहन थी, उसकी आयु १३ वर्ष की की थी। तीन वर्ष तक हमारे घर में विमाता का कठोर शासन रहा। पिताजी ऐसी दुर्धर्ष प्रकृति के व्यक्ति थे कि हम दोनों भाई-बहन जीवन में कभी एक दिन के लिए भी उनसे स्वछन्दता-पूर्वक बात न कर पाए। विमाता के राज्य में तो उनका आक्रोशात्मक रूप और भी प्रबल हो उठा। भय, शंका और तिरस्कार के बीच में हम दोनों का जीवन व्यतीत होने लगा। तीन वर्ष बाद विमाता एक नन्हें से बच्चे को छोड़कर प्रसव-पीड़ा के कारण चल बसीं। बच्चा भी शीघ्र ही जाता रहा। पिताजी को जीवन के प्रति ऐसा वैराग्य आया कि उन्होंने शराब पीना शुरू कर दिया। इसके पहले शायद वह लुक-छिपकर पिया करते थे, पर अब खुल्लमखुल्ला पीने लगे और वह भी इस मात्रा में कि हम लोग घबरा उठे। उस छोटी अवस्था में ही मुझे घर का सब काम-काज सँभालना पड़ा। बहन की अवस्था विवाह योग्य हो गई थी, पर पिताजी इस बात की तरफ से

बिलकुल उदासीन थे। मैंने ही बड़े परिश्रम से उसके लिए एक वर तलाश किया। विवाह का सारा प्रबन्ध मैंने ही किया। पिताजी को केवल कन्यादान के समय किसी तरह लाकर खड़ा कर दिया गया था। बहन को मैं बहुत चाहता था। हम दोनों आपस में सुख-दुःख की बातें करके पिताजी के घोर उत्पात के संकट-काल को राम-राम करके व्यतीत करते थे। बहन जब ससुराल गई तो बहुत रोई—अपने लिए शायद उतना नहीं, जितना मेरे लिए।

विवाह के एक वर्ष बाद ही बहन को ऐसे विकट रोग ने धर दबाया कि मेरी परेशानी का ठिकाना न रहा। उसकी ससुरालवाले जब इलाज से तंग आ गए तो उन्होंने उसे मेरे सिर पर लाकर पटक दिया। मैंने यथाशक्ति रुपया खर्च करके एक-से-एक बढ़कर नामी डाक्टर का इलाज करवाया, पर सब व्यर्थ। शारीरिक, मानसिक और नैतिक कष्टों को कल्पनातीत शान्ति और धैर्य के साथ सहन करती हुई वह एक दिन स्वर्ग को सिधार गई।

पिताजी जीवन में बहुत-से धक्के सह चुके थे, पर इस अन्तिम धक्के से वह अपने को न सँभाल सके। तीन महीने तक उन्हें बुखार रहा और बीच-बीच में रक्त-वमन होता रहा। मैंने जी-जान से उनकी सेवा की। बीमारी की हालत में वह प्रायः दो महीने तक मुझसे एक समय के लिये भी प्रेम-भाव से न बोले। पर इसके बाद एक दिन अकस्मात् मेरा हाथ पकड़कर रो पड़े और कहने लगे—"शम्भू, मैंने अपने जीवन में तुम्हें बहुत कष्ट दिया है। मैं पापी हूँ और अपने पापों का फल भोग रहा हूँ। फिर भी तुम अपनी ओर से मुझे क्षमा कर देना, बेटा।"

मैं अपने को रोक न सका। इतने दिनों तक मेरे हृदय में जो प्रेम-वेदना रुद्ध होकर नीरव भाव से सुप्त थी, वह उनकी इस एक छोटी-सी बात से ऐसी भीषण वेग से उमड़ चली कि मैं धाड़ें मार-मारकर रोने लगा। उनके दोनों पाँव छूकर रोते-रोते मैंने कहा—"पिताजी, आपने

मुझे कभी कोई कष्ट नहीं दिया। मैं जानता हूँ कि आप मुझे बराबर प्राणों से भी अधिक चाहते रहे हैं। भगवान् आपको शीघ्र ही अच्छा करेंगे, यह मेरा पूरा विश्वास है। ऐसा अन्धेर वह कर ही नहीं सकते कि मुझे इस संसार में निराधार छोड़ दें।"

पिताजी ने सूखी हँसी हँसकर कहा—"अब मेरे अच्छे होने का कोई सवाल ही पैदा नहीं हो सकता, बेटा। अब भगवान से प्रार्थना है कि शीघ्र ही सब पापों से मुक्ति दें। पर तुम्हें मेरे मरने पर अधीर नहीं होना चाहिए। जिस अटल धैर्य से तुम आज तक इतनी घोर विपत्तियों का सामना करते आए हो, मेरे मरने पर भी उसे क़ायम रखना। भगवान् तुम्हारा अवश्य भला करेंगे।"

इस घटना के कुछ ही दिन बाद पिताजी कूच कर गए। मैं रह गया कुटुम्ब में अकेला, निखिल विश्व में एकाकी। कुछ समय तो मैं एकदम भ्रान्त अवस्था में जड़ होकर पड़ा रहा। धीरे-धीरे कुछ स्थिर हुआ तो पिछले जीवन के सभी कड़ुवे अनुभवों को भूलने की चेष्टा करने लगा। मेरा बाहरी मन भले ही कुछ समय के लिए उन्हें भूल जाता, पर अन्तर्मन में वे सब कटु स्मृतियाँ यक्षलोक की सी चिर-जाग्रत् सजीवता से मुझे प्रतिपल आतंकित किए रहती थीं। मित्रों ने मुझे विवाह कर लेने की राय दी और कहा कि विगत जीवन की विभीषिका से मुक्ति पाने का यही सर्वोत्तम उपाय है। पर किसी तरह भी मेरे मन में विवाह की तनिक भी इच्छा उत्पन्न नहीं हुई, न जाने क्यों। अर्थाभाव इसका कारण नहीं था। क्योंकि पिताजी इतनी सम्पत्ति छोड़ गए थे, जो कम से कम दो पुश्त तक के लिए काफी थी। कोई अच्छी लड़की हमारे समाज में न मिल सकती हो, यह बात भी नहीं थी। मेरा स्वस्थ, सबल यौवन मुझे स्त्री जाति के प्रति आकर्षित करने में असमर्थ रहा हो, यह तो स्पष्ट ही असम्भव है। फिर भी न-जाने क्यों एक अज्ञात भय और साथ ही अकारण ग्लानि की भावना मुझे विवाह करने से रोकती थी। ख़ैर।

× × ×

मैंने देखा कि एक ही स्थान पर अकेले पड़े रहना मेरी मानसिक स्थिति के अनुकूल नहीं है, विशेष करके ऐसे स्थान में जहाँ कि स्मृतियाँ आजीवन कटु रही हों। कहीं इन बद्ध वातावरण का प्रभाव मेरे मस्तिष्क पर न पड़ने लगे, इस ख़याल से मैंने कुछ समय के लिए भ्रमण करने का निश्चय कर लिया। कुछ दिनों आगरे में रहा, वहाँ से मथुरा होते हुए कानपुर पहुँचा, और फिर वहाँ से लखनऊ चला गया।

दीर्घ विजन-वास के बाद मुझे नागरिक जीवन में एक अज्ञात अवर्णनीय आकर्षण का अनुभव हो रहा था। लखनऊ की चहल-पहल में मुझे यह आकर्षण और भी प्रबल मालूम दिया। मैंने कुछ दिन वहाँ रहने का निश्चय कर लिया। अमीनाबाद के पास एक होटल में रहने लगा।

एक दिन टहलते-टहलते एक अंग्रेजी सिनेमा में जाकर बाहर टँगे हुए चित्रों को देख रहा था, इतने में एक सूट-बूटधारी व्यक्ति मेरे पास आकर खड़ा हो गया और ग़ौर से मेरी ओर देखने लगा। पहले मैंने सोचा कि वह भी चित्रों को देखना चाहता है। पर जब मैंने देखा कि वह चित्रों को देखने के लिए खड़ा नहीं है, बल्कि मुझी को देख रहा है तो मुझे आश्चर्य भी हुआ और उसकी असभ्यता पर मन-ही मन क्रोध भी आया। एक बार उसकी ओर देखकर मैं चित्रों को देखने लगा। पर बीच-बीच में कनखियों से उसकी ओर देखता जाता था। वह पहले की ही तरह मेरी ओर देख रहा और एक विचित्र प्रकार की मुसकराहट उसके ओठों में झलक रही थी। मैं तंग आकर उसके आमने सामने खड़ा हो गया। पर इस बार उसके चेहरे में मैंने एक ऐसा भाव पाया जिससे मुझे सन्देह होने लगा कि इस व्यक्ति को मैंने पहले कहीं देखा भी है। कुछ भी हो, मैंने उससे पूछा—आप क्या चाहते हैं? उसने एक हाथ को अपनी एक जंघा पर और दूसरे को दूसरी पर स्थिर रखकर कहा—"क्यों अभी तक पहचाना नहीं?"

मैंने फिर एक बार उसे ग़ौर से देखकर पहचानने की चेष्टा की अकस्मात् दो... से उछलते हुए मैंने कहा—"रामसरन!"

रामसरन ने कहा—"मैं तो तुम्हें देखते ही पहचान गया था। कहो, यहाँ कैसे आए हो ? कहाँ ठहरे हो ? आजकल क्या करते हो ?"

मैंने उसके सब प्रश्नों का यथोचित उत्तर दिया। वह और मैं बचपन में घनिष्ठतम मित्र थे। आठवें दर्जे तक हम दोनों ने स्कूल में साथ ही पढ़ा। हम लोग अविच्छिन्नरूप से एक-दूसरे के साथ रहा करते थे। इसके बाद उसके पिता की बदली इटावे को हो गई। वह भी उन्हीं के साथ चला गया था। तब से मैंने उसे फिर नहीं देखा था। इतने वर्षों के बाद आज उससे मुलाकात हुई थी। बचपन में वह साधारण से कपड़े पहनता था, जो अक्सर मैले और कभी-कभी फटे भी रहते थे। आज बढ़िया सूट-बूट में उसका कुछ और ही रूप देखा। पहले वह बहुत दुबला-पतला दिखाई देता था, पर आज वह ऐसा मोटा-ताज़ा दिखाई देता था कि प्रथम दृष्टिपात में उसे पहचानना मेरे लिए किसी तरह सम्भव नहीं हो सका था। उसकी बातों से पता चला कि वह दो साल से यहाँ ओवरसियर के पद पर काम करता है। ओवरसियरों को ऊपरी आमदनी खासी अच्छी होती है, यह मैंने सुन रखा था। इसलिए उसका वह ठाठ देखकर मुझे कुछ आश्चर्य न हुआ।

सिनेमा देखा जाय या नहीं, इस सम्बन्ध में मैं बिलकुल अनिश्चित होकर आया हुआ था। पर रामसरन दो फर्स्ट क्लास के टिकट ख़रीदकर मेरा हाथ पकड़कर भीतर ले ही गया। सिनेमा देखकर जब हम लोग बाहर आए तो वह उसी दिन मुझे अपने यहाँ ले चलने का विचार करने लगा। पर मैंने कहा—"होटल में मेरा सामान पड़ा हुआ है, इस वक्त रात हो गई है, अभी मैं नहीं आ सकता।"

वह बोला—"मैं अभी तुम्हारे साथ होटल में चलता हूँ, वहाँ से सामान उठाने में कितनी देर लगेगी ! तुम्हें आज ही रात को मेरे घर चलना होगा।"

आख़िर उसके हठ के आगे मुझे हार माननी पड़ी। होटल का बिल चुकाकर, एक ताँगे में सामान रखकर वह मुझे अपने यहाँ ले गया।

× × ×

घर पहुँचने पर रामसरन ने दरवाज़े से ही चिल्लाना शुरू कर दिया—"कमला, मैं आज एक चोर को पकड़कर लाया हूँ।"

एक अलबेली तरुणी, जिसकी अवस्था बाइस-तेइस वर्ष के लगभग होगी, बाहर निकल आई और मन्द-मन्द सलज्ज मुसकान से मेरी ओर देखने लगी। बिजली के प्रकाश में उसका रूप-स्वरूप और भाव-भंगियाँ मैं स्पष्टतः देख सकता था। उसके शृङ्गार-प्रसाधन में नख से शिख तक ऐसी तड़क-भड़क दिखाई देती थी, जो सरस, गम्भीरता-समन्वित सुरुचि के विरुद्ध होने पर भी किसी का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किए बिना न रहती। उसके बाल इस तरह सँवारे हुए थे कि साड़ी के नीचे कपाल के कुछ हिस्से तक पत्ती के आकार में सुसज्जित दिखाई देते थे। गोरे-उजले मुँह पर भी पाउडर के चिन्ह साफ़ दीखते थे। उसके मुख के गठन से मांसलता की एक ऐसी विचित्र अस्पष्ट अभिव्यक्ति झलक रही थी, जो एक अवर्णनीय वासनात्मक वेदना का भाव हृदय में उत्पन्न किए देती थी। असीम घृणा तथा अद्भुत आकर्षण के एक सम्मिलित भाव ने मुझे बरबस धर दबाया।

रामसरन ने कहा—"यह मेरी स्त्री है।" मैंने अपने मन का भाव बलपूर्वक दबाकर सलज्ज शिष्टता के साथ हाथ जोड़कर उसका अभिवादन किया। रामसरन ने मेरा परिचय उसे देते हुए कहा—"यह मेरे बचपन का साथी शम्भूनाथ है। यहाँ आकर चोरों की तरह मुझसे भागा-भागा फिर रहा था, आज अचानक सिनेमा में भेंट हो गई तो यहाँ पकड़ लाया हूँ।"

कमला ने हँसते हुए कहा—"शायद आपको मालूम न रहा होगा कि हम लोग यहाँ रहते हैं?"

किसी अपरिचित स्त्री से बोलने का यह पहला ही अवसर आज मेरे सामने आया था। मैं बहुत झेंप रहा था, तथापि साहस बटोरकर मैंने कहा—"जी नहीं। अगर मालूम होता तो क्या मैं पहले ही न आता? रामसरन को बचपन से ही झूठमूठ की बातें बनाने की आदत है।"

मेरा मन्तव्य सुनकर कमला खिलखिलाकर हँस पड़ी। उसकी हँसी से मुझे पता चल गया कि जिस नए घर में मैं आया हूँ, वहाँ किसी बात पर तकल्लुफ़ के लिए कोई स्थान नहीं है। इससे उसके स्वभाव की ढिठाई का भी थोड़ा-बहुत आभास मिल रहा था, जो मुझे कम आश्चर्य में नहीं डालता था। और आज, इतने दिनों के बाद जब मैं अपनी स्मृति को उस विगत घटना की ओर ले जाता हूँ तो मुझे किसी अज्ञात प्रेरणा से यह विश्वास हो रहा है कि मेरी सलज्ज प्रकृति ने उसे प्रारम्भ से ही आकर्षित कर लिया था।

भोजन के लिए तीनो साथ ही टेबिल पर बैठे। पता नही कमला मायके से ही अप-टू-डेट बनकर आई थी या रामसरन ने उसे ऐसा बना लिया था। उनका एक तीन साल का लड़का भी उनके साथ ही बैठ गया। रामसरन खाता जाता था और बीच-बीच में बच्चे को भी बड़े प्रेम से खिलाता जाता था। गार्हस्थ्य जीवन की ऐसी प्रेमपूर्ण स्निग्ध शान्ति का दृश्य मैंने उस दिन पहले-पहल अपने जीवन में देखा। मेरा सारा जीवन जिस अशान्ति, कटुता, ईर्षा और कलह की घटनाओं के बीच में बीता था, उसकी तुलना करते हुए मैं रामसरन के विवाहित जीवन की सौम्य शान्ति देखकर मुग्ध हो गया। रामसरन बच्चे के साथ नाना परिहास-भरी बातें कर रहा था और कमला बात-बात में खिल-खिलाकर हँस पड़ती थी। मैं भी बीच-बीच में उन लोगों के निष्कलुष हास-परिहास में शरीक होने की चेष्टा करता था। एक बड़ी मीठी और निराली वेदना लेकर मैं रात को सोने गया।

× × ×

दूसरे दिन जब हम सब लोग खा-पी चुके और रामसरन अपने काम पर चला गया तो मैं अपने कमरे में जाकर चारपाई पर लेट गया। रात को देर से नींद आई थी, इसलिए मैं सो गया। प्रायः दो घण्टे बाद मेरी आँखें खुलीं। सारे घर में मध्याह्न की स्तब्ध शान्ति व्याप्त थी। मैं लेटे-लेटे एक अपूर्व सुखालस का अनुभव कर रहा था। बीच-बीच में

भीतर के किसी कमरे में मा और बच्चे के मधुरालाप का कलगञ्जन कुछ समय के लिए व्यक्त होकर फिर बन्द हो जाता था। मध्यान्ह के समय की निस्तब्धता के माधुर्य का अनुभव मुझे आज प्रथम बार हुआ। एक अलस रसावेश की मोहकता मेरे मर्म को धीरे-धीरे भाव-विभोर-सी करती जाती थी। अकारण ही एक अनोखी अनुभूति मझे किसी निराले ही संसार की ओर प्रेरित कर रही थी और मुझे ऐसा अनुभव होने लगा था कि मेरे विगत जीवन का सारा चक्र एक दुःस्वप्न के सिवा और कुछ नहीं था। मानो जीवन-नाटक का एक विराट् काला पर्दा मेरी आँखों से हट गया हो और उस पर्दे के हट जाने पर स्निग्ध प्रेम, सुमधुर शान्ति से पूर्ण आनन्दमयी कल्पना के विविध वर्णों से रञ्जित भाव-जगत् का एक सुरम्य दृश्य मेरी आँखों के आगे व्यक्त हो पड़ा।

मैं पलँग पर लेटे-लेटे इसी प्रकार का दिवा-स्वप्न देख रहा था कि अकस्मात् बच्चे को गोद में लेकर कमला मेरे कमरे में घुस आई! मैं हड़बड़ाकर उठ बैठा। कमला मेरे सामने खड़ी होकर बच्चे का मुँह बड़े लाड़ से चूमकर मेरी ओर संकेत करते हुए उससे पूछने लगी— "जानता है, वह कौन हैं?" बच्चा वास्तव में बड़ा सुन्दर था। मेरी भी इच्छा होती थी कि उसे गोद में लेकर उसका मुँह चूमूँ। उसका गोरा, उजला मुँह, कमान के समान तनी हुई दो काली-काली भौंहें, पुतलियों के घने-काले बालों से समाच्छन्न, एक अपूर्व अभिव्यञ्जना से विकसित दो सुन्दर, सुडौल आँखें मन को बरबस मोह लेती थीं। कमला के सामने कल की अपेक्षा मेरा संकोच आज काफी कम हो गया था। मैंने बच्चे को चुमकारते हुए दोनों हाथ बढ़ाकर उसे अपने पास आने का संकेत किया। कमला ने एक बार मेरी ओर देखकर फिर मंद मधुर मुसकान के साथ तिरछी आँखों से बच्चे की ओर देखते हुए कहा—"जाओ, चच्चा बुलाते हैं।"

बच्चा गौर से मेरी ओर देखता हुआ अकस्मात् "जज्जा!" कहकर खिलखिलाता हुआ माँ की गोद में उछल पड़ा और कमला की साड़ी

उसके सर पर से हटाकर उसने नीचे को कर दी। कमला अवर्णनीय आनन्द के उल्लास से बार-बार उसका मुँह चूमने लगी। मैंने फिर पुचकारकर दोनों हाथ बच्चे की ओर बढ़ाए। इस बार कमला ने बच्चे की इच्छा या अनिच्छा की परवा न कर दोनों हाथों से उसे पकड़कर मेरी ओर बढ़ा दिया। बच्चे को मुझे देते हुए उसने मेरे हाथों को अच्छी तरह स्पर्श कर लिया। मैं निश्चित रूप से उस समय न समझ पाया कि उसने जानबूझकर मेरे हाथ को स्पर्श किया था अथवा इत्तफ़ाक़ से ऐसा हो पड़ा था। कुछ भी हो, उस स्पर्श से मेरे सर्वांग में बिजली की कम्पन दौड़ गई। जिन लोगों ने केवल कविता में ही "विद्युत्-प्रवाह" का उल्लेख पढ़ा है और तड़ित्-तरंग के वास्तविक आघात से जो अपरिचित हैं, वे मेरे तत्कालीन अनुभव को कल्पना क़तई नहीं कर सकते। अनुभवियों से यह बात छिपी नहीं है कि वास्तविक बिजली के धक्के से शरीर में जो सुरसुरी-सी पैदा होती है, उसमें पुलक की अपेक्षा पीड़ा की मार्मिकता अधिक रहती है। कमला के तड़ित् स्पर्श ने मेरे शरीर में ठीक उसी प्रकार की सुरसुरी पैदा कर दी। मैंने चकित होकर जिज्ञासु दृष्टि से क्षण-भर के लिए उसकी ओर देखा। उसने प्रति-जिज्ञासा के भाव से अपनी मार्मिक दृष्टि मेरी ओर प्रेरित की। तत्काल के लिए उसकी आँखों से उसकी स्वाभाविक हास-रेखा पूर्णतः विलुप्त हो गई थी। मैंने सोचा कि उस विद्युत्-घटना के प्रति एकदम अवज्ञा का भाव प्रदर्शित कर देना ही मेरे लिए उचित है। मैंने बच्चे से खेलना शुरू कर दिया।

बच्चा कुछ देर तक तो बड़े शान्तभाव से मेरी गोद में बैठा रहा, पर शीघ्र ही उसने रोना शुरू कर दिया और माँ के पास जाने के लिए छटपटाने लगा। कमला ने उसे अपने पास लेने के लिए दोनों हाथों को बढ़ाया। मैं चाहता था कि उसे ज़मीन पर रख दूँ और कमला अपने-आप वहाँ से उठा ले। पर कुछ संकोच और कुछ शिष्टता के ख़याल से ऐसा न कर सका। कमला ने मेरे एकदम निकट आकर मेरी गोद पर से उसे उठाया और ऐसा करते हुए इस बार भी मेरे हाथ को अपने

हाथ से बड़े आराम के साथ स्पर्श कर लिया। मैं चकितावस्था में विमूढ़-भाव से पलँग पर बैठ गया।

शिष्टाचार का ख़याल रहते हुए भी मैंने कमला से एक बार भी बैठने के लिए न कहा। वह कुछ देर के बाद स्वयं एक कुर्सी उठाकर उस पर बैठ गई। उसकी साड़ी जिस समय से बच्चे ने सर पर से हटा दी थी, तब से उसका सर अभी तक नंगा ही था। उसे फिर से ढकने की चेष्टा उसने एक बार भी न की। बच्चे को गोद पर हिलाते हुए और थपकियाँ दे-देकर उसे सुलाने की चेष्टा करते हुए उसने मुझसे पूछा—"बहनजी को आप अपने साथ क्यों नहीं लाए?"

उसके इंगित का अनुमान बहुत कुछ लगाने पर भी मैं ठीक तरह से उसका प्रश्न समझ न पाया। मैंने कहा—"बहनजी से आपका मतलब किससे है, मैं ठीक समझा नहीं।"

वह मुसकराई। एक बार अपने बच्चे की ओर देखकर बोली—"जुगुल की चाची।"

"कौन? ओह! अब समझ गया।" कहकर मैं भी सलज्ज-भाव से मुसकराने लगा। "पर मैंने तो अभी विवाह ही नहीं किया है।"

उसने बड़े आश्चर्य का भाव प्रकट करते हुए कहा—"अभी तक आप अविवाहित हैं? यह क्यों?"

"यों ही। मैं अभी अपने को किसी बन्धन में जकड़ना नहीं चाहता।"

"तो आप स्वतन्त्र प्रेम के पक्षपाती हैं?" उसकी व्यंग-भरी मुसकान और अर्थ-भरी चितवन से मैं कुछ भयभीत-सा हो उठा। अपनी दुस्साहस-पूर्ण बात को सहज, स्वाभाविक रूप में प्रकट कर देने की कला में उसकी दक्षता अविवादास्पद थी।

मैंने कहा—"जी नहीं, अभी इतना साहस मुझमें नहीं है।"

कमला काफ़ी देर तक मेरे पास बैठी रही और इसी तरह की बातें करती रही। चार बजे जब रामसरन काम पर से वापस आया तो हम

लोग साथ ही चाय पीने बैठे। वार्तालाप का क्रम पहलेपहल रामसरन ने ही शुरू किया। उसने अपने स्वाभाविक परिहास के ढंग पर कहा—"दिन-भर देवर और भाभी के बीच प्रेम की क्या-क्या बातें होती रहीं, ज़रा मैं भी तो सुनूँ।"

कमला ने चट उत्तर दिया "देवर महाशय प्रेम के योग्य हों भी तो! अगर प्रेम के योग्य होते तो क्या अभी तक शादी न हुई होती!"

रामसरन ठहाका मारकर हँस पड़ा। बोला—"क्या सचमच अभी तक तुमने शादी नहीं की शम्भू! बड़े विचित्र आदमी हो भाई!"

मैं चुपचाप सिर नीचा करके मुसकराने लगा। रामसरन ने कहा—"कुछ परवा नहीं। अभी तुम कुछ दिन भाभी के साथ रह कर उससे प्रेम का पाठ सीख लो। प्रेम-कला में यह बड़ी निपुण है। मेरी ही तरह जब यह इस विद्या में तुम्हें भी पण्डित बना देगी, तब तुम शादी करने योग्य हो जाओगे।" कह कर वह फिर एक बार अपने परिहास पर अपने आप ही खूब जोर से हँस पड़ा। कमला कृत्रिम क्रोध प्रकट करती हुई बोली—"चलो!" पर मुझे इस विषय की चर्चा बहुत अप्रिय मालूम हो रही थी और मैं झेंप के कारण सिर ऊपर को नहीं उठा पाता था, यद्यपि बलपूर्वक झेंप मिटाने की चेष्टा कर रहा था।

चाय पीने के बाद तीनों साथ ही टहलने को चले गए।

× × ×

दूसरे दिन भी दोपहर के समय कमला फिर पहले दिन की ही तरह बच्चे को गोद में लेकर मेरे कमरे में आ खड़ी हुई। उस दिन भी उसका हास्यालाप पहले दिन की ही तरह चलता रहा, बल्कि किसी हद तक उसकी मात्रा अधिक बढ़ी हुई रही। इस प्रकार कई दिनों तक उसका यह कार्यक्रम नियमित रूप से जारी रहा। उसके परिहास और धृष्टता की मात्रा दिन-प्रति-दिन बढ़ती चली गई। अपने सरल स्वभाव, हास्य-प्रिय, सहृदय पति से उसे इन सब बातों के लिये फटकार के बदले

अधिक उत्साह प्राप्त हो रहा था। मैं विमूढ़ और विभ्रांत-सा उसके हास-विलासपूर्ण आक्रमणों का न तो विरोध कर पाता था, न प्रतिरोध।

एक दिन यह जताते हुए कि वह हस्तरेखा-विज्ञान जानती है और मेरे भूत और भविष्य के सम्बन्ध में सब बातें बता सकती है, उसने मेरा हाथ अच्छी तरह से पकड़ ही तो लिया और लगी भाग्य रेखाओं को देखने। मैंने यह बात अच्छी तरह जानते हुए भी कि यह ज़्यादती हो रही है, न जाने किस मोह की विभ्रान्ति में पड़कर बलपूर्वक अपना हाथ छुड़ाने की चेष्टा न की। इस आश्चर्यमयी रमणी का साहस न जाने किस हद तक आगे को बढ़ेगा, मैं इसी सोच में मग्न था और वह मेरे भाग्य के सम्बन्ध में न जाने क्या क्या बेसिर-पैर की बात बताती गई, मैंने ध्यान नहीं दिया। उसने अपनी कुर्सी को मेरी कुर्सी के साथ सटाकर रख लिया था और अपना कंधा प्रायः मेरे कंधे से मिलाकर वह झुककर बैठी थी। उसके शरीर से एसेन्स की बड़ी तेज़ खुशबू आ रही थी जो मेरे शरीर और मन को एक अनोखे मादक ज्वर से जर्जरित कर रही थी।

हम दोनों अपने-अपने भाव में तन्मय थे। हम लोगों का मोह तब भंग हुआ जब अकस्मात् रामसरन को कमरे के दरवाज़े पर खड़ा पाया। कमला मेरा हाथ छोड़कर तत्काल उठ खड़ी हुई। मेरा हृदय ग्लानि और अज्ञात भय के कारण ज़ोरों से धड़कने लगा। पर कमला यद्यपि सम्भवतः कुछ कम घबराई हुई न थी, तथापि उसने सहज प्रेम-भरी मुसकान का भाव मुँह पर झलकाकर स्वाभाविक कण्ठस्वर से अपने पति से कहा—"देवरजी की शादी की बात जल्दी हो जायगी, मैं शर्त बाँधकर यह बात कह सकती हूँ। अभी मैं उनके हाथ की रेखाएँ देख रही थी। विवाह की रेखा स्पष्ट है और इसी वर्ष उसका जोग पड़ा है।"

मैं रामसरन के चेहरे की ओर ग़ौर कर रहा था। स्याही का एक हलका-सा रंग उसके मुँह में पुत गया था। वह अव्यक्त प्रश्नभरी दृष्टि से एक बार मेरी ओर देखता था, एक बार कमला की ओर। कमला

ने किस सफ़ाई से निःसंकोच भाव से परिस्थिति को सुलझाने का साहस किया, यह देखकर जितना ही विस्मित मैं हो रहा था, रामसरन उससे कुछ कम नहीं हो रहा था। उसने म्लान मुख से, क्षीण कण्ठ से कमला की बात का जवाब देते हुए कहा—"शम्भू की शादी इसी वर्ष हो जाय तो इससे अच्छा और क्या हो सकता है !" कहकर खिसियाना हुआ-सा वह बाहर चला गया। कमला भी उसके पीछे चली गई। उस दिन चाय के समय का वार्तालाप कुछ जम न पाया। रामसरन के मन में कुछ सन्देह तो निश्चय ही हो गया था, पर किस हद तक, मैं कह नहीं सकता। तथापि मैं लज्जा और ग्लानि से गड़ा जाता था—यद्यपि मैं विशेष रूप से अपराधी नहीं था। जो वास्तव में अपराधिनी थी उसका हाल ही कुछ और था। वह और दिनों की अपेक्षा आज अधिक प्रसन्न और निर्द्वन्द्व थी। वह आज बहुत अधिक बोल रही थी और ज़रा-ज़रा-सी बात पर खिलखिला पड़ती थी।

× × ×

इस घटना के दूसरे या तीसरे दिन के बाद की बात है। उस दिन सनीचर था। रात को जब हम लोग खाना खा चुके तो रामसरन ने अपनी पत्नी से कहा—"मुझे सिनेमा के सेकिण्ड शो में जाना है, कुछ मित्रों ने विशेष आग्रह किया है।" कहकर वह चला गया। उसके चले जाने पर मैं थोड़ी देर तक कमला के साथ बैठा रहा। उसने बच्चा दाई के हवाले कर दिया था और वह सो भी गया था। वह फ़ुर्सत के साथ बैठी हुई थी। पर आज उसके मुँह पर हँसी का भाव वर्तमान नहीं था। वह बीच-बीच में मौन रहकर एक विचित्र भाव-भरी दृष्टि से एक प्रकार की रहस्यपूर्ण उत्सुकता के साथ मेरी ओर देख रही थी। मैं उस दृष्टि का कुछ अर्थ न समझकर शंकित हृदय से उठ खड़ा हुआ और कम्पित पगों से अपने कमरे में जाकर पलंग पर लेट गया।

कुछ देर तक अनेक अर्थहीन चिन्ताओं में निमग्न रहा। धीरे-धीरे

अज्ञात में आँखें झपने लगीं और मैं सो गया। मुझे कभी गहरी नींद नहीं आती। छोटी अवस्था से ही पारिवारिक दुश्चिन्ताओं के फेर में पड़ जाने के कारण मैं वर्षों से अर्द्धनिद्रित अवस्था में सोने का आदी रहा हूँ अकस्मात् किवाड़ के खटकने का शब्द सुनकर मैं चौंककर सचेत होकर उठ बैठा। मैंने प्रतिदिन के अभ्यास के अनुसार किवाड़ यों ही फेर दिये थे, भीतर से चिटखनी नहीं लगाई थी। मैंने पुकारा—"कौन है?" देखा कि दरवाज़ा भीतर से बन्द करके एक छायामूर्ति धीरे-धीरे मेरे पास आ रही है। मैं हड़बड़ाता हुआ पलंग पर उठ बैठा। जब वह मूर्ति मेरे एकदम निकट चली आई तो मैंने भय से दबी हुई ज़बान से फिर पूछा—"कौन है?" मेरी ही तरह दबी हुई ज़बान से उत्तर मिला—"मैं हूँ, शोर न कीजिए।"

यह कहकर वह मेरे पलंग पर आकर बैठ गई। आवाज़ से मैं समझ गया कि कमला है। क्षण भर तक मैं चरम भ्रान्ति से स्तब्ध रह गया। उसके बाद एक अवर्णनीय उन्माद, एक रोमाञ्चकर भय और साथ ही अपरिसीम ग्लानि के मिश्रित भावों का बवण्डर मेरे भीतर प्रचण्ड वेग से मचने लगा। मैं तत्काल पलंग पर से नीचे कूद पड़ा और काँपती हुई आवाज़ में मैंने कहा—"आप मेरे ऊपर ज़ुल्म कर रही हैं। इस समय आपका मेरे कमरे में आना किसी तरह भी उचित नहीं है। आप यहाँ से अभी चली जायँ!"

कमला पलंग पर से उठी। कुछ देर तक वह अनिश्चित रूप से खड़ी रही। उसके बाद उसने बाहर की ओर पाँव बढ़ाए, पर मेरे पास पहुँचने पर वह फिर ठिठक कर खड़ी रह गई। मैंने पूर्ववत् कम्पित स्वर में दबी हुई ज़बान से कहा—'जाइए, जाइए, जल्दी जाइए, इस कमरे में आप का एक सेकिण्ड भी खड़े रहना उचित नहीं है। जाइए! पर उसे न मालूम क्या हो गया था, वह स्थिर भाव से अविचल प्रस्तर-मूर्ति की तरह वहीं पर मौन भाव से खड़ी रही। मेरा हृदय बेतहाशा धड़क

रहा था और उस निर्लज्जा रमणी का अनर्थकारी मौन हठ देखकर मेरे सर से पाँव तक आग लग रही थी।

मैंने फिर कहा—"अगर आप अपनी ज़िद पर डटे रहना चाहती हैं, तो अच्छी बात है, मैं खुद ही यह कमरा छोड़ कर चला जाता हूँ।" यह कहकर मैंने बाहर को जाने के किवाड़ खोल दिए। किवाड़ खोलते ही मैं इस तरह एकाएक चौंक कर पीछे हटा, जैसे आकाश से सहसा अप्रत्याशित रूप से बिजली टूटकर मेरे ऊपर गिरी पड़ी हो। मेरे कमरे के बाहर रामसरन दीवार के सहारे चुपचाप खड़ा था। सिनेमा से लौटने का समय अभी नहीं हुआ था। तब क्या वह हम लोगों की परीक्षा लेने के लिए झूठमूठ सिनेमा जाने की बात कह गया था? बहुत सम्भव है। पर कुछ भी हो, मैं तो घोर लज्जा, दुःख और क्रोध के कारण अपने आपे में नहीं रह गया था और यदि उस समय कमरे में कोई पिस्तौल या छुरी होती तो मैं निश्चय ही आत्महत्या कर लेता।

रामसरन मुझे देखते ही वहाँ से चला गया था। कमला अभी तक खड़ी थी। मेरी सारी आत्मा उसे देखकर जल रही थी. असह्य क्रोध से मैंने उसका हाथ पकड़कर दरवाजे के बाहर ढकेल दिया और भीतर से किवाड़ बन्द करके पलंग पर चारो खाने चित लेट गया। किसी नारी पर ऐसा उग्र क्रोध प्रदर्शित करने का यह पहला ही अवसर मेरे जीवन में था। मैं हाँफ रहा था। अपने सहृदय और सरल-स्वभाव मित्र की आँखों में गिर जाने के कारण मेरी मर्मवेदना का अन्त नहीं था। मेरा सिर घूम रहा था और बहुत सी बातें सोचने की इच्छा होने पर भी कुछ भी ठीक तरह से सोच न पाता था। केवल एक बात बार-बार मेरे मस्तिष्क को आघात कर रही थी। बार-बार मेरे मन में यह विचार उठता था कि कमला के आचरण के प्रायश्चित-स्वरूप कल किसी न किसी उपाय से अवश्य मुझे आत्महत्या कर लेनी चाहिए। पर इसके पहले एक बार रामसरन से क्षमा माँगनी होगी।

रात भर मानसिक अशान्ति से छटपटाता रहा, और एक पल को

भी नींद न आई। दूसरे दिन शाम तक अपने कमरे में ही पड़ा रहा। नौकर मेरे कमरे में हीं मुझे चाय दे गया। दिन भर रामसरन के पास जाने और उससे क्षमा माँगकर छुट्टी लेने का संकल्प करता रहा, पर साहस न हुआ। जो नौकर चाय लाया था, मैंने साहस बटोरकर उससे पूछा—"बहू जी कहाँ हैं ? बाबू घर ही पर हैं या कहीं गए हुए हैं ”

"बहू जी तो आज सुबह से ही अपनी बहन के घर पर हैं। उनकी एक बहन यहाँ हुसैनगंज में रहती हैं। वहीं गई हुई हैं। बाबूजी अपने कमरे में लेटे हुए हैं ”

× × ×

मैं उठकर कपड़े पहनकर बलपूर्वक लज्जा संकोच सब त्यागकर रामसरन के कमरे में घुस पड़ा। मुझे देख कर रामसरन घबराता हुआ उठ बैठा। उसके चेहरे पर एकदम मुर्दनी छाई हुई थी, जैसे महीनों से बीमार पड़ा हो। मैंने हाथ जोड़कर उससे कहा —"भाई रामसरन जान-कर या अनजान में मुझसे जो कुछ अपराध बन पड़ा हो, उसे क्षमा करना। मैं अब जा रहा हूँ। पता नहीं फिर इस जन्म में तुमसे कभी मुलाकात होगी या नहीं।

मेरी आवाज कुछ भर्राई हुई थी। रामसरन ने उठकर मेरा हाथ पकड़ लिया। उसने कहा—"नहीं, मैं तुम्हें यों ही न जाने दूँगा। मैं भी तुम्हारे साथ चलता हूँ। कुछ दूर तक टहल आएँ।" कहकर उसने कपड़े पहनने शुरू कर दिया। इसके बाद वह मेरा हाथ पकड़कर बाहर ले गया। मैंने मन में सोचा—"क्या मुझे पुलिस के हवाले करना चाहता है ? असम्भव है ! पर कहाँ लिए जाता है ? उसकी मंशा क्या है ? ”

वह मुझे एक अपेक्षाकृत निर्जन रास्ते में ले गया। रास्ते में उसने मुझसे कहना शुरू किया—"देखो शम्भू ! कल रात की घटना की वास्तविकता से मैं भली भाँति परिचित हूँ। मैं कान लगाकर तुम्हारी बातें

सुन रहा था। तुम पर मुझे न कभी सन्देह था, न हो सकता है। पर दूसरों पर भी तो कभी मेरे मन में सन्देह नहीं रहा। प्रेम और विश्वास-पूर्वक मैं अकपट सरलता से आज तक विवाहित जीवन बिता रहा था और संसार में अपने को सबसे अधिक सुखी समझता था। पर—खैर, अब इस विषय की चर्चा से क्या फायदा ?"

निर्जन रास्ता छोड़कर वह एक जन-कोलाहल से पूर्ण सड़क पर मुझे ले गया। मैं चुपचाप चला जाता था। मेरे मन की दशा उस समय क्या हो रही थी, यह केवल अन्तर्यामी हीं जान सकते हैं। इच्छा होती थी कि अपने और मित्र के दुःख पर कहीं एकान्त में जी भरकर रोऊँ। जीवन भर दुःख और अशान्ति का भार ढोते रहने के बाद अपने मित्र के यहाँ आने पर उसके पारिवारिक जीवन में स्निग्ध प्रीति और सरस शान्ति का राज्य देख कर जीवन के आनन्द के रसावेश का एक निराला अनुभव ज्योंही करने लगा था त्योंही उस भाव के मूल में कुठाराघात हो गया ? सोच-सोचकर मेरा सिर चक्कर खाने लगा।

रामसरन मुझे एक होटल के भीतर ले गया। मैनेजर से उसका पुराना परिचय मालूम होता था। एक एकान्त कमरा मैनेजर ने हम लोगों के लिए खोल दिया। उसने एक बोतल बढ़िया विलायती ह्रिस्की की मँगाई। मैंने आश्चर्य से उसकी ओर देखा। उसने कहा—'मुझे माफ करना मित्र ? आज मेरे दुख का पारावार नहीं है। अगर शराब न पीऊँ तो पागल हो जाऊँगा। आज तीन वर्ष बाद इस चीज को मैं पहली बार छू रहा हूँ।

मेरे भीतर पूर्व जन्म से निहित न जाने कौन दानवी संस्कार जाग पड़ा। मैंने कहा—"मैं भी पीऊँगा। मैं भी आज बहुत दुखी हूँ।"

रामसरन का चेहरा क्षण-काल के लिए उत्कण्ठित हो उठा। उसने कहा—"तुम भी पियोगे ? तुम सचमुच मेरे सच्चे मित्र हो, शम्भू ! इसके पहले भी तुमने कभी पी है।"

"कभी छुई तक नहीं।"

"कुछ परवा नहीं, मित्र ! आज श्रीगणेश करो। इसे अवश्य पिया करो, यही जीवन का एकमात्र सार है, इसका अनुभव तुम्हें अभी हो जायगा।"

ह्विस्की की बोतल, सोडा, बरफ और दो गिलास लेकर ब्वाय आया। रामसरन ने मेरे गिलास में ढालना शुरू किया। उसके ज़िद करने पर भी मैंने अधिक नहीं लिया। बोतल को देखते ही रामसरन की आँखें उद्दीप्त हो उठी थीं। दोनों पीने लगे। मैं एक पेग भी पूरा न लेने पाया था कि मेरी सब शिराएँ घूर्णित होने लगीं। उस घूर्णन के फलस्वरूप मुझे ऐसा मालूम होने लगा कि युगों से मेरी आत्मा के तल-प्रदेश में सुप्त आनन्दोन्मादपूर्ण भावनाओं को किसी सजीवन-रस के सञ्चार से चैतन्य प्राप्त होने लगा है। मेरी उस दिन की घोर अवसादग्रस्त मानसिक परिस्थिति के कारण शायद मुझे शराब का पहला अनुभव उतने सुन्दर रूप में हो पाया। ग्लानि का लेश भी मेरे मन में न रहा। घोर से घोर पापी के प्रति भी घृणा का संस्पर्श मेरे भीतर नहीं रह गया था और न कट्टर शत्रु के प्रति विद्वेष का कोई भाव शेष रह गया था। सबके प्रति क्षमा, सबके प्रति प्रेम का पागल प्लावन मुक्त वेग से उमड़ चला था।

रामसरन अपने गिलास में पेग पर पेग डालता और खतम करता जाता था। मुझसे कहने लगा—"प्यारे, आनन्द का कुछ अनुभव कर रहे हो? इस दग़ाबाजी से भरी हुई दुनिया के कुछ ऊपर उठ रहे हो? उफ़! स्त्री-चरित्र के बारे में जीवन में बहुत कुछ सुनता आया था; फिर भी मैंने कभी इन बातों पर विश्वास नहीं किया और सदा नारी-जाति को प्रेम, श्रद्धा और सम्मान की दृष्टि से देखता आया। पुरुष और नारी के समानाधिकार का मैं हमेशा पक्षपाती रहा। आज उसका यह प्रतिफल मुझे मिला! पर मारो गोली इन बातों को! डैम इट आल! अच्छा ही हुआ, संसार के बंधनों से मैं मुक्ति पा गया। अपनी स्त्री से तो अब मेरा कोई सम्बन्ध रही नहीं सकता है, और बच्चे को भी मैं अनाथालय में भेज दूँगा। नहीं अब मैं किसी तरह का भार, कोई झञ्झट अपने ऊपर नहीं

ले सकता। जब तक नौकरी करके रुपये कमाता रहूँगा, तब तक इस हाला के सागर में अपने हृदय के सभी दुस्सह भारों को डुबाता रहूँगा! इससे जो सुख है, वह स्वर्ग में भी नहीं मिल सकता। बच्चन की वे पंक्तियाँ याद हैं—

विस्मृति की आई है वेला,
कर पांथ न इसकी अवहेला,
आ, भूलें हास-रुदन दोनों,
मधुमय होकर दो-चार प्रहर!

कितना सुन्दर लिखा है! तुम लोग कुछ भी कहो, बच्चन बड़ा भारी कवि है मित्र!"

मैं तरंगित काफी होने पर भी पूर्णतः अपने होश-हवास में था। जब उसने अपने बच्चे को अनाथालय भेजने की बात कही तो मेरा दिल दहल उठा मैंने कहा—

"तुम यह क्या बात करते हो, मित्र! तुम्हारे बच्चे ने क्या अपराध किया है? जरा सोचो तो सही, वह भोला-भाला प्यारा-दुलारा लड़का निश्चित भाव से जन्मसिद्ध स्नेह के पूर्ण विश्वास के साथ अपने माँ-बाप की गोद में इतने दिनों तक हँसता-खेलता रहा है, उसे क्यों छोड़ोगे? और तुम्हारी स्त्री ने ही कौन-सा बड़ा अपराध किया है? तुम्हें अपने स्वभाव के ही अनुरूप उदार बनना चाहिए, भाई!"

"बच्चे के बारे में तुमने बिलकुल ठीक कहा है। तुम बड़े सहृदय हो और तुम्हारा हृदय बड़ा कोमल है, शम्भू। पर मेरी स्त्री के बारे में भी तुम कहते हो कि उसने कौन-सा अपराध किया है! ठीक है, तुम ठीक ही कहते हो। उसने दर-असल कोई बड़ा अपराध नहीं किया है। पर जरा सोचो तो सही मित्र, उसने आज मुझे कितना छोटा कितना हीन बना दिया है, मेरे जीवन के सारे सुख, सारी आशाओं को मिट्टी में मिला दिया है, बना बनाया घर उजाड़ दिया है। और मैंने उसकी

ख़ातिर क्या नहीं किया? उसके कारण समाज को त्याग दिया, कुटुम्बियों से झगड़ा किया। तुम्हें शायद खबर नहीं है कि यह एक हीन वंश की लड़की है और मेरी बिरादरीवालों ने इसके साथ विवाह करने के कारण मेरा बहिष्कार कर दिया था। मेरे कुटुम्बी भी इस विवाह के पक्के विरोधी थे। पर मैं उसे बहुत दिनों से जानता था और उसे जी-जान से चाहता था। और आज—उफ़! आज उसने मुझे कहीं का न रखा!" कहकर वह फूट-फूटकर रोने लगा।

मैं भी अपने आँसुओं को नहीं रोक पाता था। मैं ही अपने अनजान में उसके इस मर्मघाती दुःख का कारण हुआ हूँ, यह सोचकर मेरी आत्मग्लानि की सीमा नहीं थी। उसे किस तरह दिलासा दूँ, यह सोच नहीं पाता था। मैं केवल यही कहता रहा—"रामसरन, यह क्या करते हो! यह क्या करते हो! यह अधीरता तुम्हें किसी तरह शोभा नहीं देती!"

कुछ देर बाद उसका रोना बन्द हो गया; तथापि उसने आँसू नहीं पोंछे। कुछ क्षण तक वह स्तब्ध, निर्निमेषरूप से, शून्य दृष्टि से ऊपर की ओर देखता रहा। इसके बाद अकस्मात् बोल उठाः—"मैंने रोकर अपना जी हलका कर लिया है। अब मुझे किसी तरह की अशान्ति या चिन्ता नहीं है। तुम्हारे आने से जीवन में मुझे जो शिक्षा मिली है मित्र, उसका मूल्य मैं नहीं आँक सकता। ब्वाय, जल्दी दो प्लेट कोर्मा लाओ।" कहकर वह फिर अपने गिलास में मदिरा ढालने लगा और मुझसे बोला—"तुम भी जरा और लो, प्यारे, किस भ्रम में पड़े हो? जीवन के इस सच्चे सार को समझो! बहुत सयाने न बनो!" यह कहकर मेरे गिलास में भी ढालने लगा, मैंने गिलास हटा लिया।

खा-पीकर जब हम लोग उठे तो उसकी यह हालत हो गई थी कि वह अच्छी तरह से चल भी नहीं पाता था। मैं ख़ुद नशे में था, पर उसकी हालत देखकर मैंने प्रबल इच्छा-शक्ति द्वारा अपने को सँभाला, और उसका हाथ पकड़कर धीरे-धीरे उसे सीढ़ियों से नीचे ले गया। एक ताँगे

में उसे बिठा-कर मैं भी उसके साथ बैठ गया। ताँगे में बैठते ही उसने मुझे गले से लगाते हुए कहा—"तुम्हारे साथ रहने से आज मैं पागल होने से बच गया, मित्र ! और...और...हाँ, तुम्हारे कहने पर मैंने अपनी स्त्री को भी क्षमा कर दिया। भगवान उसका भला करें !"

मैंने भी गद्‌गद होकर उसके कन्धे पर हाथ रखते हुए कहा—"मैं भी तुम्हारे साथ रहने से आत्मघात करने से बच गया, भाई।"

रास्ते भर वह गाता रहा—

विस्मृति की आई है बेला,
कर पांथ न इसकी अवहेला,
आ, भूलें हास-रुदन दोनों,
मधुमय होकर दो-चार प्रहर !

उसी दिन से मैं शराब पीने का आदी हो गया, सुकुलजी !

चौथे विवाह की पत्नी

प्यारी भामा,

तुम्हारे दोनों पत्र मुझे यथासमय मिल गए थे। इतने दिनों तक उत्तर न भेज सकी, इसके लिए क्षमा करना। तुमने इस बात की शिकायत की है कि मैं अपनी सहेलियों को पत्र लिखने में सदा आनाकानी करती हूँ। इस आनाकानी का कारण तुमने अपने अनुमान से यह समझा है कि चूँकि मैं एक धनी घर में ब्याही गई हूँ, इसलिए अपने बाल्यकाल की उन सखियों को भूल गई हूँ, जिनका विवाह के बाद भी निर्धनता से सम्बन्ध नहीं छूटा है। बहन, तुमने बहुत छुटपन से मेरी प्रकृति से परिचित होने पर भी ऐसी बात लिखी है, जिससे मुझे बड़ी गहरी चोट पहुँची है। पत्र कम लिखने की जिस बुरी आदत से मैं लाचार-सी हो गई हूँ, उसके कारण बहुत से हैं; पर वह कदापि नहीं हो सकता, जिसका उल्लेख तुमने किया है। मैं गिरस्ती के जंजालों से ऐसी जकड़ी हुई हूँ कि प्रथम तो मुझे अवकाश ही नहीं मिलता और मिलता भी है तो मन में एक ऐसी जड़ता छाई रहती है कि इच्छा प्रबल होने पर भी किसी को कुछ लिख नहीं पाती। मुझे स्वयं इस बात पर बड़ा आश्चर्य होता है कि गृहस्थ-जीवन का सब सुख प्राप्त होने पर भी मैं अवकाश के समय अपने जीवन में क्यों एक विकराल शून्यता का अनुभव करती हूँ। धनी परिवार, गुणवान् पति, हँसते-खेलते हुए बाल-बच्चे, सहृदय सास-ससुर सभी मुझे सहज-सुलभ हुए हैं, तिस पर भी न-जाने क्यों समय-समय पर असन्तोष का दीर्घ निःश्वास बरबस मेरी आत्मा से निकल पड़ता है। कभी-कभी मुझे सन्देह होने लगता है कि मैं कहीं सचमुच पागल न हो जाऊँ। किसी भी काम में मैं कितनी ही व्यस्त होऊँ, फिर भी अन्यमनस्क-सी रहती हूँ, और जब इस अन्यमनस्कता का कारण खोजने लगती हूँ, तो कुछ

भी नहीं समझ पाती और सारे मस्तिष्क में घोर भ्रान्ति छा जाती है और सिर चक्कर खाने लगता है।

असल बात मुझे यह मालूम होती है कि जिस युग में हम लोगों ने जन्म लिया है, असन्तोष की बीमारी उसका प्रधान लक्षण है। क्या स्त्री, क्या पुरुष, क्या बच्चे, क्या बूढ़े, सभी को इस रोग ने ज्ञात या अज्ञातरूप से धर दबाया है। उच्चतम शिक्षा-प्राप्त धनी व्यक्तियों से लेकर अशिक्षिततम निर्धन व्यक्तियों तक सभी इस रोग से पीड़ित हैं। मुझे न मालूम क्यों इस बात पर विश्वास होने लगता है कि इस युग की हवा में ही कोई एक ऐसी रहस्यपूर्ण इन्द्रजाली माया छिपी हुई है, जो वास्तविक जीवन के प्रांगण में प्रवेश करने के पहले कुमार-कुमारियों की मानसिक आँखों के आगे भविष्य का एक ऐसा मनमोहक झिलमिला रूप खड़ा कर देती है कि निकट पहुँचने पर वह मृगतृष्णा से भी अधिक धोखा देता है।

आश्चर्य तो इस बात पर अधिक होता है कि सुख का जो साधारण आदर्श तुम्हारी और मेरी जैसी लड़कियों के मन में विवाह के पहले होना चाहिए, वह जब चरितार्थ हो जाता है, तो भी हम लोगों का असन्तोष ज्यों-का-त्यों बना रहता है। (तुम भी अपने विवाहित जीवन के प्रति असन्तोष का भाव छिपा नहीं सकी हो।) इससे यह अनुमान करना अनुचित न होगा कि हम लोग सुख की चरितार्थता के लिए संसार से एक ऐसी अज्ञात और अवर्णनीय वस्तु चाहते हैं, जो उसके पास नहीं है।

तुम्हारा-हमारा जब यह हाल है, तो जिन्हें भाग्य ने वास्तव में असन्तोष का कारण दिया है, उनके सम्बन्ध में कहना ही क्या है। मैं रामेश्वरी की बात सोच रही हूँ। मैं जानती हूँ कि उसे उसके अनुरूप पति प्राप्त नहीं हुआ। पर मैं पिछले युग की ऐसी स्त्रियों को भी जानती हूँ, जो उससे भी निकृष्ट पति प्राप्त होने पर भी जीवन को जीवन की तरह बिता गई हैं। रामेश्वरी को तो फिर भी धनी पति प्राप्त हुआ था; पर वे

स्त्रियाँ कुरूप, गुणहीन और साथ ही निर्धन पतियों के साथ जीवन यात्रा करने को बाध्य होने पर भी कभी नहीं उकताई हैं। उनका उत्साह कभी पल भरके लिए भी ठंडा नहीं पड़ा है। मैं जानती हूँ कि तुम ऐसी स्त्रियों की दास-मनोवृत्ति का उल्लेख करोगी, क्योंकि तुम मेरी ही तरह बीसवीं शताब्दी में पैदा हुई हो और अधिक नहीं तो हिन्दी मिडिल तक शिक्षा पा चुकी हो। मैं तुम्हारी इस सम्मति की यथार्थता भी स्वीकार कर लेती हूँ। पर साथ ही मैं तुम्हारे सामने वही समस्या रखूँगी, जिसका उल्लेख पहले कर चुकी हूँ। इस दास-मनोवृत्ति-रहित युग में भी ऐसी स्त्रियों की संख्या अधिक क्यों है, जिन्हें अपने अनुरूप रूप-गुण, शील और धनी पति प्राप्त होने पर भी असन्तोष का रोग जकड़े रहता है? मुझे पूरा विश्वास है कि रामेश्वरी को यदि उससे भी अधिक रूपगुण-सम्पन्न पति मिलता, तो भी वह कदापि सन्तुष्ट न होती। कारण मैं यही समझती हूँ कि जिस असम्भव और अज्ञात छायात्मक वस्तु की प्राप्ति की अस्पष्ट आकांक्षा से इस युग की सभी लड़कियाँ पीड़ित रहती हैं, उससे वह भी बची नहीं थी। पर रामेश्वरी की यह छायामयी आकांक्षा परिस्थितियों के फेर से विकृत होकर किस घोर पार्थिव माया में परिणत हो गई थी, उसका इतिहास कुछ विचित्र-सा है। इधर कुछ दिनों से मेरे मस्तिष्क में उसी की मूर्ति नाच रही है। इसलिए आज मौका पाकर इस पत्र में उसके विषय में कुछ बातें कहकर मैं तुम्हारे आगे अपना जी हलका करना चाहती हूँ। आशा है, तुम उकताओगी नहीं।

रामेश्वरी के बारे में तुम भी बहुत-कुछ जानती हो यद्यपि उतना नहीं, जितना कि मैं। तुम्हें मालूम है कि वह हमारे दल की लड़कियों की नेत्री थी। ग़रीब घर में पैदा होने पर भी उसके स्वभाव में एक ऐसी तीव्रता थी कि सब लड़कियाँ उसके संकेत पर चलती थीं। तुम्हें वह दिन याद है, जब तुमने किसी कारण से उसके किसी आदेश का पालन करने से इनकार किया था और हम सब लड़कियों ने उसके कहने पर तुम्हारा

बहिष्कार कर दिया था? अन्त में उसके पैरों पर गिड़गिड़ाकर तुम्हें क्षमा माँगनी पड़ी थी।

रामेश्वरी उम्र में हममें से बहुतों से बड़ी थी। सबका विवाह एक एक करके होता जाता था; पर रामेश्वरी का विवाह उसके घरवालों की निर्धनता तथा अन्यान्य कारणों से नहीं हो पाता था, यह बात तुम्हें मालूम है। अन्त में हमारी सहेलियों में रामेश्वरी और मैं—केवल दो जनी अविवाहित रह गईं। जब मेरे भी विवाह की बात पक्की हो गई, तो वह बहुत घबराई। विवाह होने पर उसने मेरे पतिदेव को देखा। जिस-जिसने उन्हें देखा था, उसी ने उनके रूप की प्रशंसा की थी। पर रामेश्वरी ने उन्हें देखकर ऐसी उत्कट घृणा का भाव प्रकट किया कि मैं आतंकित हो उठी। नाक-भौं सिकोड़कर वह बोली—"ऐसा बदसूरत आदमी मैंने अपनी ज़िन्दगी में कभी नहीं देखा। लोग क्या समझकर तारीफ़ कर रहे हैं, मैं समझी नहीं। विमला, मुझे तुम्हारे लिए बड़ा दुःख है।"

मैं मन-ही-मन उसकी मनोवृत्ति देखकर जल उठी थी, पर ऊपर से शान्त भाव दिखाती हुई बोली—"बहन, दुःख बिलकुल न होने दो। मेरा सुहाग बना रहे, इतना ही काफ़ी है। पति के रूप-गुण से मुझे क्या करना है!"

उसने कहा—"तुम मूर्ख हो, इसलिए रूप-गुण का महत्त्व नहीं समझतीं।"

मैं चुप हो रही। मेरी हमजोली की इतनी लड़कियों की शादियाँ हो चुकी थीं; पर मैंने कभी किसी के पति के सम्बन्ध में उसकी रुचि को सन्तुष्ट होते नहीं देखा। पता नहीं, पति के रूप के सम्बन्ध में उसका कौन-सा निराला आदर्श था। मुझे तो यह सन्देह होता है कि यदि उसे स्वयं कुमार कार्त्तिकेय भी मनुष्य-रूप में आकर वरण करते, तो वह उनके रूप में भी कोई-न-कोई दोष अवश्य निकालती। तुम्हारे पति के सम्बन्ध में उसने अपना जैसा मन्तव्य प्रकट किया था, वह तो तुम्हें मालूम ही है।

अन्त में उसके चाचा ने बड़ी कड़ी दौड़-धूप करने के बाद उसके लिए एक वर खोज निकाला। सुना गया कि उसके भावी पति महाशय तीन-तीन पत्नियों को जीवन के उस पार पहुँचा चुके हैं; पर अभी तक हैं 'जवान' और साथ ही बड़े धनी भी। तुम तब ससुराल थीं, और, तब से तुम्हें रामेश्वरी को कभी देखने का मौका नहीं मिला है। पर मैं उन दिनों मायके ही थी, और उसके बाद भी कई बार उससे मिली हूँ। खैर, रामेश्वरी ने जब सुना कि उसके बिवाह की बात पक्की हो गई है, तो (मेरा अनुमान है) इस बात से उसकी उत्सुकता और उत्साह में तनिक अन्तर नहीं पड़ा कि वह ऐसे पति के साथ ब्याही जा रही है, जिसकी तीन पत्नियाँ मर चुकी हैं। वह इतनी मूर्ख नहीं थी कि चौथे विवाह वाले व्यक्ति को एकदम जवान मान लेती। फिर भी उसकी-सी रुचिवाली लड़की इस बात से तनिक भी विचलित नहीं हुई, इस बात से मुझे कम आश्चर्य नहीं हुआ।

निश्चित दिन को संध्या के समय बारात बड़ी धूमधाम से आई। मुकुटधारी वर का मुँह झालर से ढका हुआ था, और एक रेशमी रूमाल से उसने अपने ओठों को ढक रखा था। बड़ी सभ्यता और शालीनता से वह अपने सिर को नीचे की ओर किए हुए था, जैसा कि ऐसे अवसरों पर करने का रिवाज-सा है। रामेश्वरी मेरे साथ खड़ी थी और अन्यान्य स्त्रियों के साथ कोठे पर से बारात का दृश्य देख रही थी। वर महाशय का चेहरा यद्यपि दिखाई नहीं देता था, तथापि विवाह की पोशाक में वह सचमुच जवान मालूम पड़ते थे। रामेश्वरी के मुख पर उल्लास की दीप्ति चमक रही थी।

पर विवाह-मण्डप में जब उसने प्रथम बार अपने पति के दर्शन स्पष्ट रूप से किए, तो उसकी सारी आत्मा आतंकित हो उठी। हम लोगों ने भी उसी समय उसके पति को देखा था। वास्तव में ऐसा विकृत-रूप पुरुष मैंने अपने जीवन में न पहले कभी देखा था, न उसके बाद कभी देखा है। कोयले की तरह काला रंग, प्रेतात्मा की तरह शीर्ण मुख,

गालों की हड्डियाँ बाहर को निकली हुई, आँखें एकदम भीतर को धँसी हुई, भौंहों में बाल नहीं, सिर के आधे भाग में बाल सफाचट और आधे भाग के आधे बाल पके हुए। पर सबसे अधिक भयावने थे मुँह के बाहर सूअर की तरह निकले हुए दो बड़े-बड़े दाँत। रामेश्वरी को वह साक्षात् यमराज के दूत की तरह मालूम हुआ। वह मूर्च्छित होकर मण्डप में ही गिर पड़ी। बहुत देर तक सिर में पानी छपछपाने और पंखा करते रहने के बाद वह होश में आई। किसी तरह उसका हाथ पकड़कर विवाह-कार्य समापन किया गया।

दूसरे दिन विदाई के पहले जब मैं उससे मिली, तो वह नादान बच्चों की तरह फूट-फूटकर रोने लगी और कहने लगी—"बहन, मैंने तुम्हारे पति को कुरूप बताया था, भगवान् ने मुझे उसी का दण्ड दिया है। मुझे क्षमा करना।" कहकर वह मेरे गले से लिपट गई और व्याकुल होकर और अधिक वेग से रोने लगी। मैंने जीवन में प्रथम बार उसे उतना कातर देखा था। मेरी आँखों से भी आँसू उमड़ चले थे। मैंने दिलासा देते हुए कहा—"घबराओ मत, बहन! भगवान् ने चाहा तो यह विवाह तुम्हारे लिए सब तरह से शुभकारी होगा।"

उसके पति का नाम ज्वालाप्रसाद दीक्षित था। वह बिजनौर में कन्ट्रक्टर थे। उनके कोई सन्तान नहीं थी। पहले विवाह से एक लड़की हुई थी। आठ वर्ष की अवस्था में उसकी मृत्यु हो गई थी। दूसरे विवाह से एक लड़का हुआ था, जो तीन वर्ष की अवस्था में इस लोक से चल बसा था। तीसरे विवाह से कोई सन्तान नहीं हुई थी। उनके एक सौतेले भाई थे। पैतृक सम्पत्ति का बटवारा हो गया था, और दोनों भाई अलग-अलग रहते थे। इसलिए जब रामेश्वरी अपने पति के साथ ससुराल आई, तो सारे घर की एकेश्वरी रानी-सी बनकर आई। पर सारा घर उसे भौतिक साम्राज्य की तरह सूना लगता था।

दीक्षितजी ने प्रथम दिन से ही रामेश्वरी के साथ रंग-रस की बातें करनी शुरू कर दीं। वह देखने में जैसे कुरूप और कदाकार थे, बातें

करने में वैसे ही कुशल और प्रवीण थे। पहले तो रामेश्वरी का सारा शरीर उनकी रसिकता की बातें सुनकर घृणा से जर्जरित हो उठता था, पर पीछे धीरे-धीरे उसे आदत पड़ गई और बहुत-कुछ सहन करने लगी। पर उसने अपने पति का दूसरा रूप अभी नहीं देखा था, जो पीछे प्रकट होने लगा। प्रारम्भ में कुछ दिनों तक उसे उसके पति ने सब बातों की पूरी स्वतन्त्रता दी। उसे परोक्ष रूप से यह आभास दिया कि वह मन के अनुरूप खावे, पीवे, पहने, ख़र्च करे, उसे रोकनेवाला कोई नहीं है। फल यह हुआ कि उसने इच्छानुरूप बढ़िया-बढ़िया पकवान तैयार करके खूब खाया, दूसरों को खिलाया और पड़ोस में बाँटा। अच्छे-अच्छे कपड़े स्वयं पहने और मुहल्ले की ग़रीब स्त्रियों को पहनने के लिए दिए। इससे यह न समझना चाहिए कि उसमें स्त्री-जाति की स्वाभाविक कृपणता वर्त्तमान नहीं थी। पर उस समय उसके मन की स्थिति ही कुछ विचित्र थी। उसकी अदम्य प्रणयाकांक्षा को जब खूसट पति के फूहड़ व्यक्तित्व ने प्रबल वेग से धक्का दे दिया, तो उसके भीतर निहित आत्म-रक्षा के संस्कार ने पति की धनाढ्यता के प्रति अपनी आसक्ति जोड़ने के लिये उसे प्रेरित किया और कुछ दिनों तक मुक्त-हस्त होकर स्वयं रुपया ख़र्च करने तथा वितरण करने से उसकी आहत आत्मा को किसी हद तक सन्तोष प्राप्त हुआ। पर दीक्षितजी ने जब देखा कि ज़्यादती होने लगी है, तो उन्होंने अपना असली रूप धारण किया। पहले उन्होंने उसे सावधान किया; पर जब वह न मानी, तो क्रुद्ध होकर उसे डाँटना शुरू किया। जब इससे भी कोई फल न निकला, तो उन्होंने उसे पीटना शुरू कर दिया। आधे-आधे अंगुल लम्बे अपने दो टेढ़े और पीले दाँतों को बाहर निकालकर जब वह असह्य आक्रोश से गर्जन करते हुए रामेश्वरी को पीटने लगते, तो रामेश्वरी को, न-जाने क्यों, तसवीर में देखी हुई नृसिंह, वाराह और कल्कि अवतार मूर्तियों की याद आ जाती थी। वह अत्यन्त भयभीत हो उठी। रात को कभी वह स्वप्न देखती कि वाराह अवतार उसके पति का रूप धारण कर अपने दो-दो लम्बे दाँतों से

उसे पकड़कर किसी अँधेरी गुफा की ओर जा रहा है। कभी देखती कि उसका विवाह होने पर उसके पति विकट रूप धारण करके लाल वस्त्र पहन कर एक भैंसे पर सवार होकर चले जा रहे हैं और वह स्वयं एक दूसरे भैंसे पर चढ़कर उनके साथ-साथ अन्यमनस्क-सी होकर चली जा रही है। सब बाराती भूत-प्रेतों की तरह विकृत रूपधारी हैं। बारात श्मशान-मार्ग से होकर श्मशान के चाण्डालों की बस्ती में पहुँची है। सब लोग एक भौतिक नृत्य से 'हाः हाः होः होः' का रव कर रहे हैं।

दीक्षितजी अपनी कंजूसी के लिए मुहल्ले में विख्यात थे। उनके सम्बन्ध में यह किंवदन्ती सुनी जाती थी कि एक बार उनके एक सनकी मित्र ने इस शर्त पर उन्हें एक रुपया देना स्वीकार किया कि वह उनका जूता उठाकर पाँच मिनट तक अपने सिर पर रखे रहें। उन्होंने शौक से ऐसा किया और सिर में लगी गर्द झाड़कर रुपया बजाकर जेब में रख लिया। वह कभी जलपान नहीं करते थे और सस्ता-से-सस्ता चावल खरीदते थे और सस्ता- से सस्ता आटा। यदि दाल बनती तो तरकारी उनके यहाँ नहीं बनती थी, और यदि तरकारी बनती तो दाल न बनती। यदि भोजनोपरान्त रसोई में रोटी का एक टुकड़ा भी ज़्यादा बच जाता, तो उनकी भूतपूर्व पत्नियों पर बड़ी ज़बर्दस्त डाँट पड़ती। इसके प्रायश्चित्त-स्वरूप वह दूसरे दिन अपने नियमित आहार से एक रोटी कम खाते थे। चूँकि रामेश्वरी 'वृद्धस्य तरुणी भार्या' थी, इसलिए वह कुछ दिनों तक मन मारकर, जी कड़ा करके उसकी ज़्यादतियों को सहते गए थे। पर अधिक न सह सके और नोन, तेल, लकड़ी का सारा प्रबन्ध उन्होंने अपने हाथ में ले लिया।

धीरे-धीरे रामेश्वरी की भी वही दशा होने लगी, जो उसकी स्वर्गीया सौतों की रही होगी। दीक्षितजी उसकी रोटियों तक को गिनने लगे और यह उपदेश देने लगे कि अधिक खाना स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है। दृष्टान्त-स्वरूप उन्होंने अपनी पूर्व पत्नियों का उल्लेख करते हुए कहा कि वे उनके पीछे चोरी-छिपे आवश्यकता से अधिक खा लिया करती थीं,

इसलिए उन्हें नाना रोगों ने आ घेरा और एक-एक करके तीनों चल बसीं।

रामेश्वरी को समझने में देर न लगी कि उसकी सौतों की मृत्यु का वास्तविक कारण क्या रहा होगा, क्योंकि वह स्वयं अपने शरीर में रोग के संचार का अनुभव करने लगी थी। पड़ोस की स्त्रियों से भी उसने सुना कि दीक्षितजी की तीनों पूर्व पत्नियों को मरते दम तक किस तरह भरपेट भोजन के लिए तरस-तरसकर रह जाना पड़ा था, और किस प्रकार वे पड़ोसियों के यहाँ जाकर माँग-माँगकर लुक-छिपकर खाया करती थीं। उसे अपने शून्य घर में दिन-दहाड़े ऐसा मालूम होने लगा, जैसे उसकी तीन मृत सौतों की आत्माएँ अपनी हाय-भरी आहों से सारे वातावरण को भाराक्रान्त कर रही हैं। सोचते-सोचते वह थरथर काँपने लगती। कभी-कभी उसके मन में यह सन्देह होने लगता कि उसका पति सचमुच कोई मनुष्य-रूपधारी प्रेतात्मा तो नहीं है! उसने कुछ कहानियों में सुन रखा था कि मृतात्माएँ अपने पूर्वजन्म का बदला चुकाने के लिए पति-पत्नी अथवा पुत्र-मित्र के रूप में आकर प्रकट होती हैं और घनिष्ठता जोड़ती हैं और जीवित प्राणी को अत्यन्त कष्ट देकर, उसकी आत्मा का सारा सत्व धीरे-धीरे चाटकर अन्त में अकाल में ही उसे यम के द्वार पर पहुँचा देती हैं। जब इस अद्भुत और भयावह भावना ने उसके मस्तिष्क को जकड़ लिया, तो वह उससे मुक्ति पाने के किसी लिए छटपटाने लगी। एक बार उसके मन में यह बात समाई कि किसी से कुछ न कहकर चुपचाप भागकर अपने मायके चली जाय। फिर उसने सोचा कि यह मूर्खता है और इससे लोगों में अपनी तथा अपने मायकेवालों की हँसी कराने के सिवा और कोई लाभ न होगा।

धीरे-धीरे उसने अपने मन को स्थिर किया। उसके मन में आत्म-रक्षा की प्रवृत्ति फिर एक बार प्रबल रूप से जाग पड़ी। उसने सोचा कि उसके पति-रूप-धारी प्रेतात्मा ने उसकी तीन सौतों को निगल डाला

है, तो उसे उन सौतों की हाय-भरी आत्माओं की अज्ञात सहानुभूति का बल प्राप्त करके उनका बदला चुकाना होगा।

बहन भामा, तुमको रामेश्वरी के सम्बन्ध में मेरी बातें अवश्य ही शेखचिल्ली की कहानियों की तरह असम्भव और अस्वाभाविक लग रही होंगी। तुम मन-ही मन कहती होंगी कि एक हिन्दू नारी, चाहे वह कैसी ही अत्याचार-पीड़िता क्यों न हो, किसी हालत में अपने पति से बदला लेने की बात नहीं सोच सकती : पर बहन, तुम्हें याद रखना चाहिए कि "संसारोऽयमतीव विचित्रः !" इस विपुल विश्व में, सभी काल में, सभी देशों में, ऐसी स्त्रियाँ वर्तमान रही हैं, जिनकी मनोवृत्तियाँ विचित्र परिस्थितियों के चक्कर के कारण लोगों को अत्यन्त रहस्यमयी तथा अस्वाभाविक-सी मालूम हुई हैं। हमारे देश में भी कभी इस प्रकार की स्त्रियों का अभाव नहीं रहा। 'तिरिया-चरित्र'-सम्बन्धी नाना लोकोक्तियाँ इस तथ्य को प्रमाणित करती हैं। मेरी बात का ग़लत अर्थ न करना। 'तिरिया-चरित्र' का उल्लेख करके नारी-जाति पर छींटा कसने का उद्देश्य मेरा हर्गिज़ नहीं है। बल्कि मैं दावे के साथ कह सकती हूँ कि जिन स्त्रियों पर हमारे यहाँ 'तिरिया-चरित्र' का दोष आरोपित किया जाता है, उनमें से अधिकांश ऐसी होती हैं, जिन्हें संसार ने कभी मनोविज्ञान की सहृदयता-पूर्ण अन्तर्दृष्टि से नहीं देखा है और पोंगापन्थी नीति की कसौटी में कसकर अनन्तकालीन अविचार के वज्र-अभिशाप द्वारा उन्हें शप्त किया है। रामेश्वरी के सम्बन्ध में भी मैं यही बात कहना चाहती हूँ। यह बात भी ध्यान में रखना कि रामेश्वरी के जीवन की बातें मैं उसी के मुँह से सुनकर अपनी शैली में तुम्हारे आगे व्यक्त कर रही हूँ।

मैं कह रही थी कि कुछ समय तक नाना द्वन्द्वात्मक तथा द्विविधापूर्ण विचारों के आलोड़न-विलोड़न के अनन्तर रामेश्वरी के मन में आत्म-रक्षा की प्रवृत्ति प्रबलता से जाग उठी। वह अज्ञात प्रवृत्ति जब सरल पशुओं के अन्तर में भी जागरित हो उठती है, तो बड़े-बड़े करिश्मे कर

दिखाती है। रामेश्वरी के भीतर भी इसने बड़े-बड़े चमत्कार दिखाने शुरू किए। उसके मन से भय की भावना एकदम तिरोहित हो गई और आत्म-विश्वास का भाव जाग पड़ा। अब वह पति की किसी भी आक्रोश-पूर्ण बात से सहमत न थी। अपनी इच्छानुसार सब काम करती थी और पति की डाँट को तनिक भी परवा न करती थी। जब दीक्षितजी असह्य क्रोध से उन्मत्त होकर उसे मारने दौड़ते, तो वह भी एक लकड़ी पकड़कर प्रत्याक्रमण के लिए तैयार हो जाती और कहती—"खबरदार! सँभल के रहना! अगर जरा भी हाथ चलाया तो ख़ैर न होगी! मुझे अपनी पिछली तीन स्त्रियों की तरह न समझना। तुमने भूत की तरह लग कर एक-एक करके तीनों को मारा है, अब मैं तुम पर भूत की तरह लगूँगी और ठिकाने से न रहे तो तुम्हें, तुम्हारे घर को और तुम्हारी सारी सम्पत्ति को खा जाऊँगी!"

जिस दिन दीक्षितजी ने प्रथम बार अपनी स्त्री के मुँह से इस प्रकार के वाक्य सुने, उस दिन दर-असल उनके होश- हवास उड़ गए और वह स्तब्ध होकर निःस्पन्द दृष्टि से उसे देखते रहे। फल यह हुआ कि उन्होंने हाथ चलाना और डाँटना-डपटना छोड़ दिया। क्रोध आने पर वह जी मसोस कर चुप रह जाते; पर अक्षम की तरह कोसना-कलपना उन्होंने नहीं छोड़ा। वह कहते—"अपने पति की आत्मा को तू इतना कष्ट दे रही है, इसका फल अच्छा नहीं होगा। पति अंधा, लँगड़ा लूला, बूढ़ा कैसा ही हो, उसकी सेवा ही स्त्री का परम धर्म है, ऐसा हमारे शास्त्रों में कहा गया। तू शास्त्रों का उल्लंघन कर रही है, इसलिए इसका नतीजा—" आदि आदि।

इस पर रामेश्वरी कटु व्यंग के साथ कहती—"वाह रे दन्ती! (उसने दीक्षितजी के दो बहिर्गत दन्तों के कारण उनका यह उपनाम रख दिया था। इसके उच्चारण-मात्र से उसका जला-भुना कलेजा ठंढा हो जाता था।) इस प्रकार उपदेश बघारते हुए तुम्हें तनिक भी लाज नहीं मालूम होती! बूढ़े बाबा जब तीन-तीन पत्नियों को ब्रह्मदैत्य की तरह

निगलकर चौथी को लाए थे, तो क्या इसीलिए कि उसे भी भूखों मार-कर सहज में चबा जायँगे ? पर यह टेढ़ी खीर गले के नीचे उतरने की नहीं, याद रखना ! वह लोहे के चने चबवाऊँगी कि नाना याद आ जायँगे ! आए हैं बड़े सती-धर्म का पाठ पढ़ाने ! थू पड़े ऐसे पति पर !" कहकर वह सचमुच थूक देती।

पर दीक्षितजी सहज ही चुप किए जा सकनेवाले जीव न थे। यद्यपि हाथ खुजलाने पर भी हाथ चलाने का साहस अब उनमें नहीं रह गया था, तथापि मार्मिक वचन सुनाने से वह भी बाज न आते। कहते—"पूर्वजन्म के पापों से तुम इस जन्म में मेरे पाले पड़ी हो। मैं तो तब भी ब्राह्मण हूँ; पर अब इस जन्म के पापों से अगले जन्म में न-मालूम किस चमार से तुम्हारा पल्ला बँधेगा !"

पर मुँह से जो कुछ कहें, दीक्षितजी अब वास्तव में पत्नी की प्रबल इच्छा-शक्ति के आगे परास्त हो गये थे और यथाशक्ति उसकी प्रत्येक इच्छा को पूरा करने की चेष्टा करते थे। पति-पत्नी में आपस में चखचख होती रहती थी; पर गिरस्ती का सब काम नियमित रूप से चलता जाता था। विश्वास करना कठिन होने पर भी यह बात सत्य है कि रामेश्वरी ने यथा समय एक पुत्र-सन्तान को जन्म दिया। लड़के की आकृति अविकल दीक्षितजी के अनुरूप थी। अन्तर केवल इतना ही था कि अभी पिता की तरह उसके मुँह से दो दाँत बाहर को नहीं निकले; पर उपयुक्त समय में उनके भी निकलने की आशा थी। रामेश्वरी के अन्तःकरण से इस बच्चे के प्रति घृणा तथा स्नेह की दो प्रबल प्रवेगशील धाराएँ समान रूप से बहने लगीं। पति का प्रतिरूप अपने पुत्र में पाने से उसकी चिर-प्रेम-तृषा से सन्तप्त आत्मा तृप्त न होकर और भी अधिक असन्तुष्ट हो उठी। पर दीक्षितजी तो मानो परम निधि पा गए। उन्होंने उसका नाम रखा था कालिकाप्रसाद और लाड़ से उसे 'कल्लू' कहकर पुकारते थे। एक तो सहज अपत्यस्नेह, तिसपर उसके प्रति पत्नी की उदासीनता ने उन्हें उसकी ओर और भी अधिक आकर्षित कर दिया। वह दिन और रात उसकी

सेवा में रत रहकर, उसके पास बैठकर, उसे गोद में लेकर, उसकी अपने अनुरूप छवि निहार कर परम पुलकित रहने लगे। जब बाहर कहीं काम से जाते, तो पुत्र की विछोह-वेदना से अन्यमनस्क-से रहते। यदि सच पूछो तो उन्होंने उसे तीन वर्ष पाल-पोसकर जीवित रखा। नहीं तो माता की उदासीनता उसे साल भर भी जीने न देती। वह उसे अपने हाथ से दूध पिलाते, अपने हाथ से नहलाते, अपने हाथ से कपड़े पहनाते, उसकी विस्मित, घूर्णित आँखों की ओर एक टक निहारकर पुलक-विह्वल होकर उसका मुँह चूमते। जब वह तुतलाकर बोलना सीख गया और "बाबूदी, अमाले लिए मताई लाओ" कहने लगा, तो दीक्षितजी की आत्मा में आनन्द उन्माद-गति से तरंगित होने लगा। वह उसके लिये नित्य नई २ चीज़ें लाकर उसे खिलाते थे। इस सम्बन्ध में उनकी कृपणता लज्जित होकर अपना मुँह छिपा लेती थी। दीक्षितजी ने मितव्ययिता की प्रेरणा से अपनी जिह्वा को जिस हद तक संयत रखा था, कल्लू उसी परिमाण में चटोर और रस-लिप्सु हो उठा। रामेश्वरी को उसका यह चटोरापन बिलकुल अच्छा न लगता था, और वह भरसक उसे भोज्य-पदार्थों के प्रलोभन से बचाए रखने की चेष्टा करती। वह कहती—"लड़के को अभी से चटोर बनाकर पीछे मेरी ही तरह भूखों मारने का विचार है क्या ?"

दीक्षितजी कहते—"तेरे बाप के घर से चोरी करके तो उसे नहीं खिला रहा हूँ। मैं अपने बेटे को कुछ भी खिलाऊँ, इससे तुझे क्या !"

कल्लू अपनी माँ से बहुत डरता था, अपने पशु-संस्कार से वह शायद समझ गया था कि उसकी माँ केवल बाहरी तौर से नहीं, बल्कि अपने अन्तःकरण से उसे घृणा करती है। वह घड़ी-घड़ी अपने बाबूजी से शिकायत करता रहता—"माँ बली तलाब है !" दिक्षितजी सहमत प्रकट करते हुए उसका मुँह चूमते। जब दीक्षितजी और रामेश्वरी के बीच बातों की गरमा-गरमी होने लगती, तो वह दीक्षितजी का पक्ष लेकर अपनी माँ की ओर हाथ को झटककर कहता—"मालूँगा।"

पर अत्यधिक रस-लिप्सा के कारण कल्लू पेट की बीमारी से पीड़ित

रहता, और वह बीमारी बढ़ते-बढ़ते एक दिन उत्कट अतिसार के रूप में परिणत हो गई, जो उसके प्राण लेकर ही शान्त हुई। दीक्षितजी सिर पीटकर और धाड़ें मारकर रोने लगे। रामेश्वरी भी रोई, पर अधिक नहीं।

पुत्र-शोक और पत्नी की घृणा से निःशक्त होकर दीक्षितजी पस्त पड़ गए। दिन २ उनका स्वास्थ्य तेजी के साथ गिरता चला गया। अन्त को एक दिन उन्हें बड़े जोरों से रक्त-वमन हुआ, और यह रोग उन्हें कुछ ही दिनों भीतर धराधाम से ले गया। इस प्रकार पुत्र की मृत्यु के प्रायः ६ महीने बाद उन्होंने भी उसका अनुसरण किया।

हिसाब लगाने पर मालूम हुआ कि वह प्रायः तीन लाख रुपया सचल और अचल सम्पत्ति के रूप में छोड़ गये। रामेश्वरी इस सम्पत्ति की एकमात्र उत्तराधिकारिणी थी। वह मायके चली गई। मैंने तब उसे देखा था। उसकी आकृति ही बिलकुल बदल गई थी। मुँह सूखा हुआ था और आँखों में एक विचित्र विभ्रान्ति का भाव दिखाई देता था। पर पति और पुत्र की याद दिलाए जाने पर वह बिलकुल रोती न थी, केवल एक उन्मन, अर्द्धचेतन-सा भाव उसके मुँह पर थोड़ी सी कालिमा ला देता था।

धन-सम्पत्ति का सारा प्रबन्ध उसने अपने चाचा को सौंप दिया। आवश्यकता पड़ने पर वह बीच-बीच में तीस, चालीस और ज्यादा-से-ज्यादा कभी पचास रुपया मँगा लेती थी। पर उसने देखा कि इस हिसाब से उसे तीन लाख की सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी होने का अनुभव किसी अंश में भी नहीं होता। ग़रीब घर की लड़की कंजूस पति को ब्याही गई थी। अपनी साधारण आवश्यकताओं के अतिरिक्त और किन-किन मदों में रुपया खर्च किया जा सकता है, यह वह नहीं जानती थी। फिर भी अपनी आकस्मिक धनाढयता का अनुभव वह उसी रूप में करना चाहती थी जिस प्रकार नवीना माता अपने बच्चे को गोद में लेकर अपने मातृत्व की पूर्णता का अनुभाव करना चाहती है। एक दिन उसने अकस्मात् अपने

चाचा से अनुरोध किया कि उसके लिए दो हज़ार रुपये बैंक से ले आवें, साथ ही यह भी कहा कि नोट एक भी न हो, सब चाँदी के ही रुपये हों। उसके चाचा ने बेकार इतने रुपयों को एक साथ मँगाने की मूर्खता पर बहुत कुछ कहा, पर उसने एक न सुनी और कहा—"अगर तुम नहीं लाना चाहते, तो मैं स्वयं जाकर ले आऊँगी।" लाचार चाचाजी ने चेक में सही करवा के दो हजार रुपयों की दो थैलियाँ लाकर उसके सामने रख दीं। रामेश्वरी ने उन्हें स्वयं गिनने की इच्छा प्रकट की। इसलिए नहीं कि चाचाजी पर उसे अविश्वास थ , बल्कि कौतूहल-वश अपने हाथो से उन रुपयों को वह स्पर्श करना चाहती थी।

फ़र्श पर एक चादर बिछाकर उसके चाचा ने दोनों थैलियाँ खाली करके जब उसके सामने रुपयों का ढेर लगा दिया, तो वह बहुत देर तक विस्फारित नेत्रों से एकटक उन रुपयों की ओर ताकती रह गई, जैसे किसी ने 'हिप्नोटाइज' कर दिया हो। बस, उसी समय से वह उन्मादग्रस्त हो उठी। स्थिर दृष्टि से देखते-देखते जब उसकी आँखें पथराने लगीं, तो उसने एक विचित्र विभ्रान्त मुसकान से एक बार अपने चाचा की ओर और एक बार रुपयों की ओर देखते हुए कहा—"ये सब मेरे हैं? चाचा, सच कहो, इतने सब रुपये क्या मेरे हैं? और किसी के नहीं? सब मेरे?"

चाचा ने कहा—"हाँ बेटी, ये सब तेरे हैं।"

वह उत्तेजित होकर बोली—"तब तुम सब लोग यहाँ क्यों खड़े हो? यहाँ भीड़ क्यों लगा रक्खी है। जाओ, जाओ, सब यहाँ से जाओ। मैं किसी को एक पाई न दूँगी। न, न जाओ! तुम सब मुझे लूटना चाहते हो।"

यह कहकर उसने हाथ से धक्का देकर सब लोगों को हटा दिया। इसके बाद वह दोनों मुट्ठियों से रुपयों को पकड़कर खन-खन करके फिर उसी ढेर के ऊपर डालने लगी। बहुत देर तक वह ऐसा ही करती रही।

इसके बाद शंकित दृष्टि से इधर-उधर देखकर उसने थैलियों में रुपयों को भरना शुरू कर दिया। भरने के बाद डोरे से बाँधकर दोनों थैलियों को एक-एक करके बड़ी मुश्किल से उठाकर अपने पलंग पर ले गई। सिरहाने उन्हें रखकर वह कमरा बन्द करके लेट गई। थोड़ी देर बाद फिर उन्हें खोलकर गिनने लगी। फिर थैलियों में भरकर वह लेट गई।

तब से बराबर उसका यही कार्य-चक्र जारी है। थैलियों को खोलती है और थोड़ी देर तक अपने मस्तिष्क के निराले गणित के अनुसार रुपयों को गिनकर फिर बन्द करके रख देती है। फिर खोलती है, फिर गिनती है, फिर बन्द कर देती है। अक्सर उसे इस प्रकार बड़बड़ाते हुए सुना जाता है— "क्या देखते हो? रुपयों में हाथ लगाया तो इन्हीं रुपयों से दोनों दाँतों को तोड़ दूँगी! इनमें अब तुम्हारा कोई हक नहीं है। ये मेरे हैं!"

बहन भामा, रामेश्वरी की कथा पढ़कर तुम्हें भी अवश्य ही दुःख होगा। कौन जानता था कि बचपन में हमारे दल की वही नेत्री, जिसका रोब-दाब देखकर हम सब थर्राया करती थीं, उसका अन्त में यह हाल होगा! नियति की लीला विचित्र है। अपनी कुशल समय-समय पर देते रहना।

तुम्हारी चिर-परिचिता—विमला

परित्यक्ता

श्यामा को जब उसके पति बाबू ईश्वरीप्रसाद ने विवाह-मण्डप में अवसर पाकर प्रथम बार देखा तो उसकी कुरूपता के कारण उनके हृदय को बड़ा धक्का पहुँचा। प्रत्यक्षदर्शियों में से एक दल का तो यहाँ तक कहना है कि वह तत्काल मूर्च्छित होकर गिर पड़े थे। इसमें सत्य का भाव किस अंश तक वर्तमान है, हम कह नहीं सकते। हाँ, इतना अवश्य हमें भी मालूम है कि बाबू ईश्वरीप्रसाद ने उसी दिन से नव-विवाहिता स्त्री को आजीवन त्याग देने का दृढ़ संकल्प कर लिया। बड़े भाई के बहुत समझाने-बुझाने पर भी न माने और दूसरे दिन प्रातःकाल उठकर घर को अकेले वापस चले गये। बारातियों को भी लाचार निराश भाव से उनका अनुसरण करना पड़ा। श्यामा के माता-पिता के मन में पहले से ही आशङ्का बनी थी, पर यहाँ तक नौबत पहुँचेगी, इसकी कल्पना उन्होंने नहीं की थी।

श्यामा की आयु उस समय बारह वर्ष की थी। अपने विवाह के अवसर पर ऐसी खलबली मचते देखकर उसे घबराहट अवश्य हुई, पर इसका कारण उसकी समझ में बिलकुल न आया। जब उसने सुना कि कुरूपता के कारण वर महोदय क्रुद्ध हुए हैं तो उसके लिए यह पहेली और भी अधिक जटिल हो उठी। उसने सोचा कि ऐसे अच्छे कपड़ों और ऐसे सुन्दर गहनों से सज्जित होने पर भी वह कुरूपा क्यों बताई जा रही है! असल बात यह थी कि वह अभी तक रूप के विशेषत्व, महत्त्व अथवा उसकी उपयोगिता से परिचिता नहीं थी, जब किसी स्त्री-समाज में किसी लड़की के रूप की प्रशंसा की जाती तो वह उसका अर्थ यही लगाती कि उसके कपड़ों और गहनों की सजावट अच्छी है, वह साफ़-सुथरी रहती है, उसके बाल अच्छी तरह सँवारे हुए होते हैं। इन बातों के अतिरिक्त किसी

के रूप में और क्या विशेषता हो सकती है, यह उसे नहीं मालूम था। पर आज जब उसने देखा कि उसकी कुरूपता के कारण ऐसा 'काण्ड' मच गया है, पिताजी अत्यन्त उद्विग्न हैं, माँ रो रही हैं, तो वह स्तम्भित-सी होकर त्रस्त-व्यस्त अवस्था में सिर नीचा किये एक कोने में दुबकी हुई बैठी रही और बुद्धि के अनुसार तात्कालिक स्थिति को समझने की चेष्टा करने लगी, तथापि ठीक समझ न पाई। आकाश-पाताल-व्यापी नाना कल्पनाओं से भी जब उसे इस समस्या के समाधान में कोई सहायता न मिली तो अन्य कोई गति न देखकर वह भी चुपचाप रोने लगी।

श्यामा के स्वभाव में आज तक जो लड़कपन की नादानी वर्तमान थी, उस पर इस असाधारण घटना के कारण गहरा धक्का पहुँचा इस आघात से उसके मस्तिष्क की चेतना में द्रुत परिवर्तन होने लगा। दिन-दिन वह सां रिक विषयों के सम्बन्ध में अधिकाधिक सचेत होने लगी और संसार को अच्छी तरह समझने की चेष्टा करने लगी। फल यह हुआ कि केवल दो ही वर्षों के भीतर उसके मानसिक विचारों में जो क्रान्ति मच गई, हृदय के भीतर जो तूफान उठ खड़ा हुआ, वह अत्यन्त अद्भुत, अभूतपूर्व और आश्चर्यजनक था। विवाह के समय तक वह बिलकुल भोली और बोदी थी। पर विवाह के दो वर्ष बाद जिस-जिसने उसे देखा-वही उसके स्वभाव का गाम्भीर्य और बुद्धि की स्थिरता देखकर चकित रह गया। उसकी अनुभूति अधिकाधिक तीव्र होती जाती थी और विचारशीलता भी दिन-दिन बढ़ रही थी। काम का भार उसके ऊपर बहुत था। कभी उसे अपनी माँ को धान कूटने में सहायता देनी पड़ती थी, कभी चक्की पीसनी [illegible] -कभी खाना बनाना पड़ता था। अवकाश का समय उसे बहुत कम मिलता था। पर उसे काम के बीच में भी सोचने की आदत पड़ गई थी। वह क्या सोचती थी? निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उसका हृदय और मस्तिष्क दोनों मिलकर दिन-भर नाना प्रकार की कल्पनाओं के अस्पष्ट जाल बुनते रहते थे। बाह्य जगत् में जो कुछ भी देखती थी, जो कुछ भी सुनती थी, अपने

अन्तर्जगत् में कल्पना द्वारा उसका तदनुरूप चित्रण करके उसके प्रति सहानुभूति अथवा घृणा प्रकट करने की चेष्टा करती। यदि किसी नव-वधू का लज्जा-मधुर स्वभाव उसकी नजरों में आ जाता तो धान कूटते अथवा चक्की पीसते हुए अपनी कल्पना के नाना रङ्गों से वह उस नवेली के मधुमय जीवन का चित्र अपने मन में अङ्कित करती थी और कभी कौतूहल वश अपने को उसके स्थान में कल्पना करके पुलक-लाज से पसीज-पसीज उठती थी। और कभी इस हालत में यदि वह अकेली होती तो अपनी स्थिति का ख्याल करके रोने भी लग जाती। यदि गाँव में किसी लड़की के विवाह की चर्चा छिड़ती तो उसके मन में एक टीस-सी पैदा होती थी। किसी सुन्दर लड़की का रूप देखती तो उसके मन में ईर्ष्या के साथ ही एक उमङ्ग भी उत्पन्न होती थी। तात्पर्य यह कि वह समस्त सांसारिक घटनाओं को अपने हृदय की सुख-दुःखमयी अनुभूति की तुलनात्मक दृष्टि से देखती थी। अपनी उमङ्ग, तरङ्गों और ज्वालाओं को वह प्रतिक्षण इस प्रकार हृदय से जकड़े रहती जैसे बँदरिया अपने नवजात बच्चे को। पति के निष्ठुर अपमान की वेदना का तीक्ष्ण अनुभव अब उसके मर्म को समय-समय पर अत्यन्त निर्दयता से छेदने लगा था। पहले वह उस अपमान का यथार्थ स्वरूप समझने में असमर्थ थी, पर धीरे-धीरे इस सम्बन्ध में उसकी आत्मा सचेत होने लगी। अपमान की दुःखद स्मृति ज्यों-ज्यों तीक्ष्ण होती जाती त्यों-त्यों उसके मन में समस्त संसार के प्रति अभिमान का भाव भी बढ़ता- जाता। वह सोचती—'जिस रूप और सौन्दर्य के अभाव के कारण मैं ठुकराई गई हूँ, वह असल में है क्या चीज़? मेरे हृदय में इतना रस भरा हुआ है, ऐसी मार्मिक भावुकता भरी है, बुद्धि में भी मैं किसी साधारण लड़की से कुछ कम नहीं हूँ, पति के प्रेम और सेवा के लिए दिन-रात मेरा मन तड़पा करता है, फिर भी मैं उससे वञ्चित हूँ। यह क्यों सिर्फ इसीलिए कि मैं काली हूँ!" वह मन ही-मन भगवान को कोसती हुई कहती—"हे निष्ठुर भगवान्! अगर मुझे तुमने सुन्दरता नहीं दी थी तो मेरा हृदय भी जड़ क्यों नहीं बना दिया?

क्यों उसमें ऐसी प्रबल अनुभूति और भावुकता भर दी?" वह अपने उमड़ते हुए अश्रु वेग को रोक-कर जी मसोसकर रह जाती।

अवकाश पाते ही वह बीच-बीच में धार्मिक तथा सामाजिक पुस्तकों और कभी-कभी चोरी-छिपे उपन्यास-कहानियों से अपना जी बहलाती थी। कुछ पुस्तकें उसके मामा उसके लिए पटना से भेज देते थे और कुछ वह अपनी सहेलियों से माँगकर पढ़ती थी। पुस्तकों के मायालोक में विचरण करने से उसकी कल्पना बार-बार मरीचिका में भटकती फिरती थी, और उसका पिंजर-बद्ध हृदय-पक्षी मुक्त वायु में विचरने के लिए कभी-कभी छटपटाने लगता था।

* * *

उसके मामा के यहाँ कोई विशेष उत्सव होनेवाला था। उसने गुप्त रूप से मामा को एक चिट्ठी लिखी कि "मैं इस शुभ अवसर पर पटना आना चाहती हूँ, इसलिए आप स्वयं आकर मुझे अपने साथ ले चलें।" घर के काम-काज से वह उकता गई थी। हृदय में उसके आग बली हुई थी, शरीर दिन-दिन क्षीण होता जाता था, तिस पर माँ की झिड़कियों के मारे, हर घड़ी नाकों दम था। इन सब कारणों से मायके के कर्म-चक्र में दिन-रात पिसते रहना उसके लिये एकदम असहनीय हो उठा था। वह किसी बहाने से त्राण पाना चाहती थी। उसके मामा मुंशी दीनदयाल उसे बहुत चाहते थे। उसका पत्र पाते ही वह चले आये और बहन-बहनोई को किसी प्रकार राजी करके उसे अपने साथ ले गए।

शहर में आने पर श्यामा का हृदय बहुत कुछ हल्का हो गया। मामा-मामी का स्नेह, ममेरे भाई-बहनों का साथ, अवकाश और आनन्द-मय जीवन—इन सब कारणों से, उसे अपना हृदयव्यापी विषाद मिटता हुआ-सा मालूम होने लगा। मुंशी दीनदयाल पटना में एक बड़े कण्ट्रे-क्टर थे। उनकी आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी थी। उनके दो लड़के थे और तीन लड़कियाँ। बड़ा लड़का मोहनलाल किसी आफ़िस में नौकर

था, छोटा लड़का ब्रजलाल स्कूल में पढ़ता था। बड़ी लड़की लक्ष्मी का विवाह हो चुका था, मँझली लड़की रामेश्वरी का विवाह होनेवाला था, छोटी लड़की उमा अभी नादान बच्ची थी। बहनों की सहेलियों और भाइयों के साथियों का घर पर आना-जाना नित्य लगा रहता था। जिस किसी के साथ भी श्यामा का परिचय हो जाता वही उनके गुणों की प्रशंसा करता और उसके स्वभाव का माधुर्य देखकर चकित रह जाता। उसकी बहुत-सी नव-परिचिता सहेलियाँ तो उसके साथ घण्टों बातें करके भी नहीं उकताती थीं।

मोहनलाल के मित्रों में शम्भुनाथ नाम का एक युवक भी था। वह बड़ा मिलनसार, हँसमुख, गठीला और सजीला जवान था। मुंशी दीन-दयाल के परिवार के सभी प्राणियों से उसकी घनिष्ठता थी। घर की स्त्रियाँ उसके आगे पर्दा नहीं करती थीं। बाल-बच्चे से लेकर बड़े-बूढ़े तक सभी उससे हिले-मिले रहते थे। श्यामा ने उसे जब पहले-पहल देखा तो वह रामेश्वरी को किसी बात पर इस प्रकार खिझा रहा था, जैसे वह एक नादान बच्ची हो—यद्यपि उसकी आयु चौदह वर्ष से भी अधिक हो गई थी। श्यामा यह दृश्य देखकर बहुत चकराई! देहात की लड़की थी, शहर की लड़कियों की स्वतन्त्रता का अनुभव उसे नहीं था। इसलिए एकान्त कमरे में एक अपरिचित पुरुष के साथ रामेश्वरी का हास्यालाप देखकर वह लज्जा से पसीने-पसीने हो गई और उलटे पाँव लौटने लगी। रामेश्वरी ने दौड़कर उसका हाथ पकड़ लिया और कहा—"कहाँ जाती हो, दीदी? शम्भू भैया को देखकर घबरा गईं? न, यह न होगा। चलो तुम्हें उनसे मिला दूँ, बड़े भले आदमी हैं, बड़े भैया के साथी हैं, उनके आगे लज्जा कैसी?" चलो!" श्यामा अधिक भयभीत हो उठी। अपना हाथ छुड़ाने की चेष्टा करके धीमे स्वर में बोली—"मुझे जाने दे, रामा! मेरा हाथ छोड़ न, पगली!" पर रामेश्वरी काफ़ी मज़बूती से उसका हाथ पकड़े थी। वह हठ करती हुई बोली—"नहीं, तुम्हें चलना ही होगा।" यह कहकर खिलखिला उठी। शम्भूनाथ दो बहनों को इस प्रकार

झगड़ते देखकर उठकर उन दोनों के पास ही चला आया। उसने रामेश्वरी को सम्बोधन करते हुए कहा—"उन्हें छोड़ दो। क्यों नाहक इस तरह तङ्ग कर रही हो!" रामेश्वरी ने कहा—"यही मेरी नई दीदी हैं, जिनका ज़िक्र मैंने आपसे किया था।" श्यामा ने कौतूहलवश शम्भुनाथ के मुख की ओर एक बार झाँका, और उसी दम मुँह फेर लिया। शम्भुनाथ ने कहा—"आपकी तारीफ़ मैंने रामा के मुँह से सुनी थी। आज सौभाग्य से आपके दर्शन भी हो गये।" यह कण्ठस्वर कैसा मीठा था! उसमें कैसी शिष्टता और सौजन्य वर्तमान था? श्यामा ने अपने जीवन में आज प्रथम बार किसी युवक को ऐसे मधुर झङ्कार से, ऐसी स्थिर, शान्त गरिमा से अपने को सम्बोधित करते हुए सुना। उसे ऐसा मालूम होने लगा जैसे वह वहीं पर मूर्च्छित हुआ चाहती हो। एक ज़ोर के झटके से अपना हाथ रामेश्वरी के पंजे से छुड़ाकर वह वहाँ से चली गई।

दिन-भर और रात-भर शम्भुनाथ का शब्द-झङ्कार उसके कानों में बजता रहा। उसकी कुरूपता देखकर भी कोई युवक उसके साथ इस तरह पेश आ सकता है, यह उसके कल्पनातीत था। वह सोचने लगी—"असम्भव कैसे सम्भव हो गया? तब क्या मैं वास्तव में कुरूप नहीं हूँ? अवश्य हूँ, इसमें सन्देह के लिए कोई गुञ्जाइश नहीं है। पर सम्भव है, मेरी कुरूपता ऐसी वीभत्स न हो कि जिसे देखते ही लोग घिनियाने लगें और उनका जी मतलाने लगे। यह भी कैसे कहा जाय! अगर यही बात होती तो 'वह' विवाह के बीच में ही मेरा घोर अपमान करके उस प्रकार से चले न जाते। पर क्या यह सम्भव नहीं हो सकता कि कोई विशेष पुरुष किसी विशेष लड़की को घृणा की दृष्टि से देखता हो और कोई दूसरा पुरुष उसी लड़की को सुन्दर समझकर प्रेमपूर्ण आदर से उसका स्वागत करे?" उसने शीशा उठाकर एक बार भली भाँति ग़ौर से अपना मुँह देखा और नाना युक्तियों से अपने को सुन्दर समझने की चेष्टा करने लगी।..........

इस घटना के दो-तीन दिन बाद मोहनलाल ने एक संगीत-पार्टी का आयोजन किया। उस दिन शनिवार था। रात को मोहनलाल की मित्र-मंडली बैठक के कमरे में एकत्रित हुई। भीतर के कमरे में स्त्रियाँ चिक की आड़ से देख रही थीं। बहुत देर तक गाना-बजाना होता रहा। पर मुख्य गवैया शम्भुनाथ ही था। उसने तरह तरह की राग-रागिनियाँ और ग़ज़लें गाईं। उसका गला सधा हुआ था और कण्ठस्वर मीठा था। सब श्रोता मुग्धभाव से उसका गाना सुन रहे थे। श्यामा को ऐसा मालूम हो रहा था कि जीवन के आनन्द की धारा मुक्त वेग से उसके सामने से होकर बहती चली जा रही है, प्रेम-रस का अमृतमय झरना उसके पास ही इठलाता, बल खाता हुआ फेनोच्छ्वास से तरङ्गित हो रहा है, पर उसे छूने का भी अधिकार उसे नहीं है अपने शुष्क हृदय की ज्वाला बुझाने के लिए उसकी एक बूँद भी उसे प्राप्त नहीं हो सकती! सब स्त्रियाँ तन्मय होकर सुन रही थीं, वह भी सुन रही थी, पर उसकी आँखें भावोच्छ्वास और अभिमानवश आँसुओं के प्रवेग से भीग रही थीं। वह सबके पीछे खड़ी थी, इसलिए उसे यह सुविधा थी कि उसका रोना कोई नहीं देख सकता था। जो लोग सोचते हैं कि सङ्गीत सुनने से भावुक स्त्री-पुरुषों का हृदय सदा आनन्दित होता है, वे बड़ी भारी भूल करते हैं। सङ्गीत का गुण केवल आनन्द ही उत्पन्न करने का नहीं है, वह कभी-कभी हृदय में एक निगूढ़ वेदना का क्रन्दन उत्पन्न करता है, और कभी-कभी मस्तिष्क में रक्त का उत्ताप उत्पन्न करनेवाली उत्तेजना। भुक्तभोगियों से यह बात छिपी न होगी कि इस उत्तेजना का प्रदाह कभी-कभी कैसा उग्र रूप धारण कर लेता है। एक तरफ़ तो श्यामा के हृदय में भावों का आवेग उमड़ रहा था और दूसरी ओर उसके मन में अपनी परिस्थितियों के प्रति घोर असन्तोष, अपने प्रति घृणा और संसार के प्रति विरक्ति के भाव उत्पन्न हो रहे थे। इन सब कारणों से उसका मस्तिष्क भिन्नाने लगा और उसे चक्कर-सा आने लगा। वह बीच ही में उठकर भीतर चली गई और अपने कमरे में जाकर पलँग पर लेट गई।

शम्भुनाथ प्रायः नित्य ही मोहनलाल के यहाँ आता जाता रहता था। जब वह बेधड़क स्त्रियों के बीच में आकर खड़ा हो जाता तो श्यामा का सारा शरीर लज्जा और सङ्कोच के भाव से जर्जरित हो उठता था। वह कनखियों से उसे देखती थी। कभी-कभी इच्छा होने पर भी उसे अपना सौन्दर्यहीन मुख शम्भुनाथ को दिखाने का साहस नहीं होता था। यद्यपि शम्भुनाथ को उसके साथ प्रत्यक्ष रूप से बातें करने का अवसर नहीं मिलता था, तथापि परोक्ष में वह यह भाव जना देता था कि श्यामा के प्रति वह उदासीन नहीं है।

एक दिन श्यामा और रामेश्वरी दोनों साथ ही श्यामा के कमरे में बैठी हुई थीं। रामेश्वरी श्यामा का जूड़ा बाँध रही थी। दोनों आपस में हँसी-खुशी की बातें कर रही थीं। अचानक शम्भुनाथ आ खड़ा हुआ। श्यामा ने उसे देखते ही तत्काल अपना सिर साड़ी से ढक लिया। "ओह? मुझे मालूम नहीं था। गलती हुई, मैं जाता हूँ।" कहकर शम्भुनाथ लौटने लगा। रामेश्वरी दौड़कर उसके आगे खड़ी हो गई और कहने लगी--"कहाँ जाते हैं, बैठिए? दीदी कोई बिच्छू नहीं हैं जो आप को काट खायेंगी।" शम्भुनाथ ने कहा—"दीदी बिच्छू नहीं हैं यह मैं जानता हूँ, पर मैं दीदी के लिए साँप जरूर हूँ। इसीलिए मुझे देखते ही भय से उन्होंने अपना मुँह ढाँप लिया।" रामेश्वरी खिलखिला उठी और बोली—"आप घबराइए मत, मैं उनका सारा डर अभी दूर किये देती हूँ। उन्हें अपना मुँह खोलना पड़ेगा।" यह कहकर वह श्यामा की साड़ी सिर पर से हटाने की चेष्टा करने लगी, पर श्यामा दोनों हाथ से बड़ी मजबूती से उसे पकड़े थी। दोनों की छीना-झपटी में साड़ी फट गई। रामेश्वरी ने खेलवाड़ के बतौर साड़ी का फटा हुआ हिस्सा पकड़कर उसे और भी ज्यादा चीर डाला और जोर से खिलखिलाकर हँसने लगी। शम्भुनाथ ने कृत्रिम गाम्भीर्य से रामेश्वरी को दुतकारते हुए कहा--"तुम बड़ी शैतान हो!" उस समय बेचारी श्यामा की दुर्दशा देखने योग्य थी। फटी साड़ी में नङ्गे सिर संकुचित अवस्था में सिर

नीचा किये बैठी थी। शम्भुनाथ ने उसके पास आकर कहा—"मुझे विश्वास है कि आपकी साड़ी शुभ घड़ी में फटी है। आज से सदा के लिए पर्दे को तिलांजलि दे दीजिए!" श्यामा ने एक बार पूर्ण दृष्टि से शम्भुनाथ की ओर देखने का साहस किया। इस बार उसकी दृष्टि में सलज्ज हास का मधुर विलास वर्तमान था और भ्रूविक्षेप में एक सांकेतिक वक्रता।

श्यामा के सिरहाने एक पुस्तक रखी हुई थी। पुस्तक का नाम था 'भक्ति का मार्ग।' उसके भीतर बड़े सुन्दर अक्षरों में श्यामा का नाम और पुस्तक के प्राप्त होने की तारीख लिखी थी। दो-चार पन्ने उलटाकर शम्भुनाथ ने कहा—"ईश्वर की गुलामी और धर्म के पचड़े ने हमारी स्त्रियों को एकदम कायर और निकम्मा बना डाला है।" श्यामा ने रामेश्वरी के कान में उत्तर के बतौर कहा—"नास्तिकों में ईश्वर और धर्म का महत्त्व समझने की बुद्धि कहाँ!" रामेश्वरी ने शम्भुनाथ को श्यामा का उत्तर सुना दिया। शम्भुनाथ बोला—"अगर मेरा राज्य होता तो मैं सब धार्मिक पुस्तकों की होली जलाकर आग तापता।" श्यामा ने रामेश्वरी के कान में कहा—"कहो कि ईश्वर गंजे को नाखून नहीं देता।" रामेश्वरी ने इस उत्तर को भी दुहरा दिया। इस प्रकार कुछ देर तक उत्तर-प्रत्युत्तर का सिलसिला जारी रहा। सम्भवतः रामेश्वरी और शम्भुनाथ दोनों को श्यामा के रुख़ के इस आकस्मिक परिवर्तन पर आश्चर्य हो रहा था। जाते समय शम्भुनाथ ने श्यामा को उद्देश्य करके कहा—"आज आप के गुणों का वास्तविक परिचय पाकर बड़ी प्रसन्नता हुई। आशा करता हूँ कि अब की बार जब आऊँगा तो आपको इसी प्रकार प्रसन्नचित्त पाऊँगा"

उसके चले जाने पर रामेश्वरी ने श्यामा से कहा—"देखा दीदी, कैसे भले आदमी हैं! तुम तो खामखा घबरा रही थीं!"

श्यामा आज वास्तव में प्रसन्न थी। अपने इस अकारण हर्ष का आवेग वह किसी रूप में बाहर निकलना चाहती थी। उसने उल्लासपूर्वक

रामेश्वरी के गाल में सस्नेह चिकोटी काटी ; अत्यन्त आवेश से उसका मुँह चूमा, मानो वह एक नादान बच्ची हो, और इसके बाद हिस्टीरिया-ग्रस्त स्त्री की तरह दोनों हाथों से उसके सिर के बालों को खूब जोर-जोर से मलने लगी। उत्कट आवेग के कारण कभी उसे चुमकारती थी, कभी कभी दाँतों को पीसती थी। उसके इस दुलार से रामेश्वरी हौलदिल-सी हो गई।

* * *

भागलपुर से मुंशी दीनदयाल के एक दूर के सम्बन्धी आये हुए थे। उन्हें जब श्यामा का परिचय प्राप्त हुआ तो उन्होंने उसके पति के सम्बन्ध में बड़ी-बड़ी दास्तानें सुनानी आरम्भ कर दीं। उनकी बातों से मालूम हुआ कि वह भागलपुर में डाक्टरी करते हैं और उनकी डाक्टरी खासी अच्छी चल रही है। यह भी मालूम हुआ कि उन्होंने अभी तक दूसरा विवाह नहीं किया है। इन नवागत महाशय की बातों से ऐसा जान पड़ता था कि वह डाक्टर साहब से विशेष घनिष्ठता का सम्बन्ध रखते हैं। उनके सम्बन्ध की साधारण से साधारण बात पर भी वह बड़ी रोचकता से प्रकाश डालते थे—खासकर उस समय, जबकि श्यामा उपस्थित रहती। डाक्टर साहब की प्रशंसा करना ही उनका मुख्य ध्येय जान पड़ता था। जब कोई व्यक्ति उन्हें इस बात की याद दिलाता कि ईश्वरीप्रसाद ने अपनी निरपराधा पत्नी को केवल कुरूपता के कारण विवाह के समय से ही त्याग करके घोर अन्याय किया है तो वह इस चर्चा को बड़े कौशल से टाल देते और फिर उनके गुणों का बखान करने लगते।

श्यामा के हृदय में एक नया आन्दोलन मचने लगा। अपने हृदय में वह पति का एक निराला चित्र अंकित करने लगी। विवाह के समय उसने पति के मुख की क्षणिक झलक देखी थी, वह बिलकुल अस्पष्ट थी, उससे उनकी आकृति के सम्बन्ध में कोई धारणा उसके मन में नहीं हो

सकती थी। इसलिए वह उनकी आकृति को कल्पना द्वारा सुन्दर रंगों से रँगकर सोचती कि वह बहुत बड़े आदमी की तरह घर पर एक बढ़िया कुर्सी पर बैठकर डाक्टरी के मोटे-मोटे ग्रन्थों के निरीक्षण में तन्मय रहते होंगे, उनके यहाँ मरीजों का ताँता नित्य लगा रहता होगा; जिस समय हैट-कोट पहनकर किसी बड़े आदमी के यहाँ विजिट में जाते होंगे; उस समय लोगों के मन में उनके चेहरे की गम्भीरता देखकर सम्भ्रम का भाव उत्पन्न हो जाता होगा। शाम को जब वह सैर के लिए मोटर पर सवार होकर निकलते होंगे तो शहरवाले उनकी ओर इशारा करके आपस में कानाफूसी करते हुए कहते होंगे—"देखो, वह अमुक डाक्टर साहब जा रहे हैं।" वह मन ही मन कहती—"ऐसे पतिकी सेवा का सौभाग्य कौन स्त्री नहीं चाहेगी! सुनती हूँ कि अभी तक उन्होंने दूसरा विवाह नहीं किया और न करने का ही विचार है। तब उनका इरादा क्या है? क्या अभी तक उनके मन में मेरी कुरूपता का आतङ्क वैसा ही बना है? यदि मैं उनके पास जाकर उनके पैरों पर पड़ूँ और गिड़गिड़ाऊँ तो क्या वह नहीं पिघलेंगे? जिनके गुणों की इतनी प्रशंसा की जा रही है, जो ऐसे समझदार आदमी हैं, वह कभी एक स्त्री के आर्त क्रन्दन को नहीं ठुकरा सकते। विवाह के समय जोश में आकर उन्होंने अवश्य अन्याय किया, पर उनका वह क्रोध सदा वैसा ही बना रहेगा, यह जरूरी नहीं। पर मैं कैसे उनके पास जा सकती हूँ? जिससे कहूँगी, वही मेरी बात हँसी में उड़ा देगा।"

असल बात यह थी कि अपने ऊपर शम्भुनाथ की सुदृष्टि देखकर उसमें आत्म-विश्वास का सञ्चार होने लगा था। वह सोचती कि शम्भुनाथ जैसा सुन्दर, सुशिक्षित, सर्वगुण-सम्पन्न युवक जब उसके प्रति आकर्षित हुआ है तो इसके मानी यह हैं कि उसका रूप उतना कुत्सित नहीं है, जितना वह समझे बैठी थी। कभी-कभी इस सम्बन्ध में भी उसके मन में सन्देह होता और वह सोचती कि सम्भवतः शम्भुनाथ अपनी दयालु प्रकृति के कारण उस पर कृपा-भाव रखता हो और वह भ्रम-वश यह समझे बैठी

है कि वह उसके प्रति आकर्षित हुआ है। यह शङ्का मन में उत्पन्न होने पर वह शम्भुनाथ के मन का यथार्थ भाव जानने के लिए अधिक बेचैन हो उठती थी और उसकी प्रत्येक बात, प्रत्येक हाव-भाव पर ग़ौर करने की चेष्टा करती। यह प्रश्न उसके मन में कभी उदय नहीं हुआ कि शम्भुनाथ का भाव उसके प्रति कैसा रहता है, यह बात जानने के लिए उसके मन में जो बेचैनी समाई रहती है उसका मूल कारण क्या है? किसी परपुरुष की दृष्टि में आने की लालसा पाप है या नहीं?

एक दिन रामेश्वरी ने उसे सूचित किया कि शम्भु बाबू की बहन ने उन दोनों (श्यामा और रामेश्वरी) को निमन्त्रित किया है, शम्भु बाबू अपनी मोटर में दोनों को अपने साथ ले चलेंगे। श्यामा घबराई। उसने पूछा—"मामी क्या जाने देंगी? उनकी आज्ञा के बिना तो मैं नहीं जा सकती।" रामेश्वरी ने कहा—"अम्मा से मैंने पूछ लिया है, उन्हें कोई उज्र नहीं है।"

दूसरे दिन शाम को शम्भुनाथ मोटर लेकर पहुँच गया। श्यामा और रामेश्वरी पहले से ही तैयार बैठी थीं। शम्भुनाथ ड्राइवर के साथ बैठ गया और वे दोनों पीछे की सीट में बैठ गईं। कुछ देर बाद मोटर एक स्थान पर आकर खड़ी हो गई। रामेश्वरी उतर पड़ी और श्यामा से बोली—"मैं दो मिनट के लिए अपनी एक सहेली से मिलकर अभी लौट आती हूँ, तुम बैठी रहो।" यह कहकर वह पासवाली गली के भीतर चली गई। शम्भुनाथ तत्काल उठकर श्यामा की बग़ल में रामेश्वरी के स्थान पर आकर बैठ गया और ड्राइवर से बोला—"ले चलो!" श्यामा की घबराहट का वर्णन नहीं हो सकता। उसकी बुद्धि चकराने लगी थी। उसकी समझ ही में न आता था कि माजरा क्या है! जब मोटर चलने लगी तो उसने साहस करके कहा—"अभी रामा नहीं आई, आप मुझे अकेले कहाँ लिये जाते हैं?" उसका गला काँप रहा था। शम्भुनाथ ने उत्तर दिया—"रामा की आवश्यकता ही क्या है? जब मैं साथ में हूँ तो डर किस बात का? आप निश्चिन्त रहें।"

श्यामा धड़कता हुआ कलेजा लेकर चुप बैठी रही। वह कुछ कहना चाहती थी, पर ज़बान से एक शब्द नहीं निकलता था, जैसे किसी ने ताला ठोंक दिया हो।

मोटर शहर से बाहर निकल गई। चारों ओर देहात का दृश्य नज़र आने लगा। कुछ देर बाद एक बाग़ के भीतर एक निर्जन मकान के पास आकर मोटर ठहर गई, पर मकान में चौकीदार के सिवा और कोई न था। एक कमरा खुलवाकर शम्भुनाथ प्रायः बलपूर्वक श्यामा का हाथ पकड़कर उसे भीतर ले गया और एक कोच पर बिठा दिया। श्यामा अकबका कर वज्र-स्तम्भित-सी बैठी रही। शम्भुनाथ ने कहा—"मैं आज एक निवेदन करना चाहता हूँ इसीलिए आपको यहाँ लाया हूँ।" श्यामा अधिक भयभीत हो उठी। शम्भुनाथ कुछ कहना चाहता था, पर ऐसा जान पड़ता था कि उसे साहस नहीं हो रहा है। क्षण भर के लिए चुप रहकर वह बोला—'देखिए, मुझे इस बात पर बड़ा आश्चर्य होता है कि आपका व्यवहार मेरे प्रति इस क़दर रूखा रहने का कारण क्या है? क्या आप मुझसे घृणा करती हैं? क्या सचमुच मैं आज तक आपके मन में केवल घृणा उभाड़ने में ही समर्थ हुआ हूँ? क्या आपने मुझमें कोई भी गुण ऐसा नहीं पाया, जिससे मेरे सम्बन्ध में आपके मन में कोई कोमल भाव उत्पन्न हो?" श्यामा ने दृष्टि नीचे की ओर करके कहा--"आपका ठीक-ठीक तात्पर्य क्या है, मैं समझी नहीं। आप देखते हैं, मैं मारे भय के काँप रही हूँ।" शम्भुनाथ का साहस बढ़ने लगा। वह बोला—"आप नहीं जानतीं कि जब से मैंने आपको देखा है, तब से मेरी क्या दशा हो गई है। मैं अपना सर्वस्व आप पर न्योछावर करने के लिए तैयार हूँ, और अपनी यह आकुल अभिलाषा आपके चरणों पर निवेदन करने के लिए ही आज अन्याय-पूर्वक धोखा देकर आपको यहाँ लाया हूँ।"

शम्भुनाथ की छायावादी भाषा से चाहे और कुछ भी व्यक्त हुआ हो, उसमें ज़बर्दस्ती और दबाव का भाव वर्तमान नहीं था। श्यामा

कुछ स्थिर हुई। उसने गिड़गिड़ाते हुए कहा—"देखिए शम्भु बाबू, मैंने कभी स्वप्न में भी नहीं सोचा था कि आप मेरे साथ इस प्रकार का आचरण कर सकते हैं। मैं एक दुःखिनी नारी हूँ और आपको बराबर अपना हितैषी समझकर श्रद्धा की दृष्टि से देखती चली आई हूँ। पति ने विवाह के दिन से ही मुझे त्याग रक्खा है, इसीलिए समाज मुझे घृणित समझता है। क्या आप मेरे कलङ्क को चरम सीमा तक पहुँचा देना चाहते हैं? क्या मुझे जन्म-जन्मांतर के लिए........।" वह अधिक बोल न सकी, अञ्चल में आँखें छिपाकर बेबस रोने लगी। शम्भु चकित था। जब श्यामा कुछ शान्त हुई तो फिर कहने लगी—"आप पर मुझे बड़ा भरोसा था। मैंने सोचा था, आप मुझे मेरे जीवन के सबसे बड़े सङ्कट से उबारनें में सहायक होंगे, क्योंकि आपको देखते ही मैं आपकी महत्ता पर आकर्षित हुई थी, और आपको अपना त्राण-कर्ता मानकर बड़ी आशाएँ किये बैठी थी; पर.........।"

शम्भु पिघल गया। वह सहृदय था और उसका स्वभाव वास्तव में ऐसा नहीं था, जैसा उसने वर्तमान कारँवाई से अपने को दिखाया था। एक अव्यक्त आवेग के वशीभूत होकर वह बहुत आगे बढ़ गया था, पर अब उसे अपनी भूल मालूम होने लगी थी। बोला—"क्षमा कीजिएगा; मुझसे बड़ी भूल हुई। इस समय से मैं आपका अनुचर हूँ, जैसी आज्ञा देंगी, करूँगा। आग में कूद पड़ने को कहें तो वह भी मुझे मंजूर है। चलिए, इस समय आपको यथा स्थान पहुँचा देता हूँ। आप निश्चिन्त रहें, किसी को कानों-कान ख़बर न होने दूँगा।"

* * *

रामेश्वरी को छोड़कर वास्तव में अन्य किसी भी व्यक्ति को उक्त घटना की कोई ख़बर मालूम न हुई। इससे श्यामा की एक बड़ी भारी चिन्ता दूर हो गई।

वह बहुत दिनो से जिस बात का मन-ही-मन निश्चय कर रही थी,

अन्त को उसे पूरा करने का दृढ़ सङ्कल्प उसने कर लिया। अपनी मामी से उसने अपना यह विचार व्यक्त कर दिया कि वह एक बार भागलपुर जाकर अपने पति से स्वयं मिलने की इच्छा रखती है, और इस बात के लिए जोर बाँधा कि उसके मामा उसे साथ ले चलें। मामी ने उसकी मूर्खता पर हँसकर उसे बहुत समझाया, पर वह किसी तरह न मानी। अन्त को उसके मामा उसे ले चलने को राज़ी हो गये।

मुंशीजी शम्भुनाथ को भी साथ ले गये थे। भागलपुर में वह अपने एक मित्र के यहाँ ठहरे। डाक्टर साहब को ख़बर दी गई कि उनकी पत्नी अमुक सज्जन के यहाँ अपने मामा के साथ आई हुई है, वह डाक्टर साहब से मिलना चाहती है, इसलिए वह एक बार आकर मिलने की कृपा करें। तीन चार दिन तक ये लोग डाक्टर साहब के उत्तर का इन्तज़ार करते रहे, पर कोई उत्तर न आया। श्यामा दुःखित हुई, पर निराश न हुई क्योंकि इस सम्बन्ध में विशेष आशा करके वह नहीं आई थी। तथापि वह अपने निश्चय में दृढ़ थी। पाँचवें दिन वह ज़िद करके मामा से झगड़कर शम्भुनाथ तथा जिस घर में उसके मामा ठहरे हुए थे, उस घर की एक प्रायः छः साल की लड़की को साथ लेकर सन्ध्या के समय डाक्टर ईश्वरीप्रसाद के यहाँ जा खड़ी हुई। उसके समान सङ्कोचशीला स्त्री की वह अविचलित दृढ़ता देखकर शम्भुनाथ चकित था। उसे पूरा भय था कि उसकी इस ज़िद का परिणाम अच्छा नहीं होगा।

डाक्टर साहब उस समय घर पर नहीं थे। श्यामा प्रतीक्षा में बैठी रही। घर की स्त्रियों में श्यामा का परिचय पाकर बड़ी खलबली मच गई थी और तरह-तरह के व्यङ्ग-बाणों की बौछारें उस पर होने लगी थीं। पर वह परम धैर्यपूर्वक सब सहन करके बैठी रही। प्रायः अढ़ाई घण्टे बाद डाक्टर साहब आये। शम्भुनाथ ने उन्हें आज पहली बार देखा था। उनके मुख में जो सौम्य शान्त भाव झलक रहा था, वह उसे उनके उज्जवल चरित्र का द्योतक जान पड़ा। उसने जाकर उन्हें सूचना दी और कहा कि श्यामा एकान्त में उनसे मिलना चाहती है। डाक्टर

साहब के मुँह पर हवाइयाँ उड़ने लगीं। कुछ देर तक सोचने के बाद उन्होंने कहा—"अच्छी बात है, मैं कपड़े बदलकर तैयार होता हूँ, तब तक इन्तज़ार करने को कहिए।"

प्रायः बीस मिनट के बाद डाक्टर साहब ने श्यामा को बुला भेजा। छोटी लड़की को सहारे के बतौर साथ लेकर श्यामा डाक्टर साहब के कमरे में उपस्थित हुई। डाक्टर साहब ने कमरा भीतर से बन्द कर दिया।

शम्भुनाथ बाहर बड़े अधैर्य से बहुत देर तक श्यामा के लौटने का इन्तज़ार करता रहा। डाक्टर साहब का रुख देख-कर वह किसी अच्छे परिणाम की आशा नहीं कर रहा था। पर उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा, जब श्यामा अत्यन्त प्रसन्न मुख लेकर बाहर आई। उसकी आँखों में जो अपूर्व उल्लास चमक रहा था, वह वर्णनातीत था। शम्भुनाथ इसका अर्थ कुछ न समझ सका। श्यामा ने कहा—"शम्भु-बाबू, देर हो गई, आपको कष्ट हुआ, क्षमा कीजिएगा, चलिए।"

शम्भुनाथ की बड़ी इच्छा थी कि डाक्टर साहब के साथ श्यामा की क्या-क्या बातें हुईं, उसकी पूरी दास्तान सुने। पर श्यामा ने एक शब्द भी इस सम्बन्ध में नहीं कहा, और कुछ भी इशारा नहीं दिया।

* * *

दूसरे ही दिन वे लोग पटना चले गये। पटने में दो-चार दिन रहकर श्यामा घर चली गई। उसके घर जाने के प्रायः एक महीने बाद शम्भुनाथ को उसका एक पत्र मिला, जिसमें लिखा था—"प्रिय शम्भु बाबू, आपके मन में अवश्य ही यह जानने की उत्सुकता बनी होगी कि पतिदेव के साथ उस दिन मेरी क्या-क्या बातें हुईं। उनका पूरा ब्योरा जानकर आपको कोई लाभ नहीं होगा। पर इतना मैं अवश्य आपको जता देना चाहती हूँ कि तब से पतिदेव के प्रति मेरे मन में चौगुनी श्रद्धा बढ़ गई है। मैं उनके साथ नहीं रह सकती, यह निश्चित है; उनके साथ न रहने में ही मेरी भलाई है, यही बात उन्होंने मुझे समझाई और साथ न रहकर

भी मेरी आत्मा किस प्रकार परम पवित्र आनन्द से तृप्त रह सकती है, इसका भी मर्म समझाया। तब से मेरे मन में कोई ग्लानि, किसी प्रकार का कोई क्षोभ नहीं रह गया है। मैं वास्तव में परम प्रसन्न हूँ। मैं घर छोड़ रही हूँ। बहुत सम्भव है, वृन्दावन या किसी दूसरे तीर्थ-स्थान में चली जाऊँगी। जिस विश्व-प्रेमिक की आँखों में अरूप में भी रूप की तरङ्ग बहती हुई नजर आती है, उसी को रिझाने की कला सीखूँगी। घर को, बन्धु-बान्धवों को सदा के लिए त्यागने में जिस आनन्द का आभास मुझे मिल रहा है, उसका वर्णन नहीं कर सकती। आपको भूलने की बार-बार चेष्टा कर रही हूँ, पर अभी हृदय में दुर्बलता वर्तमान है, इसीलिए यह पत्र लिख रही हूँ। मेरे भीतर भी देवता का निवास है, यह भावना केवल आप ही ने मेरे मन में जागरित की है। इसके लिए आप को जितना धन्यवाद दूँ, थोड़ा है। इस कलङ्किनी को सदा के लिए भूल जाइएगा, यही प्रार्थना करती हूँ। आपकी--कुल-कलङ्किनी--श्यामा।"

स्वामी आलोकानन्द

मुंशी रामस्वरूप डिस्ट्रिक्ट इञ्जीनियर थे। उनकी आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी थी। शहर में जब कहीं पुरुषों अथवा स्त्रियों की किसी भी गोष्ठी में पारिवारिक सुख की चर्चा छिड़ती तो उदाहरण के तौर पर मुंशीजी के कुटुम्ब का उल्लेख अनिवार्यतः किया जाता था। मुंशीजी नित्य अपनी बग्गी पर सवार होकर घण्टा, आध घण्टा के लिए प्रातभ्र मण के उद्देश्य से बाहर होकर मुक्त वायु का सेवन किया करते थे। आज अचानक इन्हें रास्ते में शहर के प्रसिद्ध एडवोकेट लाला कन्नोमल मिल गये। लालाजी भी हवाखोरी के लिए पैदल चले जा रहे थे। मुंशीजी को देखकर लाला ज़रा सिटपिटाये और आँखें कुछ नीची करके सड़क के एक किनारे से होकर दुबककर चलने लगे। जब कभी वह मुंशीजी की फ़ैशनेबल बग्गी देखते तो उनके मन में, न मालूम क्यों, एक प्रकार की बेचैनी समा जाती थी।

"कहिए लालाजी, क्या हाल है?" यह कहकर मुंशीजी ने बग्गी लाला कन्नोमल के पास ही आकर रोक दी। फिर बोले—"किधर तशरीफ़ ले जा रहे हैं?" "यों ही, हवाखोरी के लिए बाहर निकला हूँ।" "तो बग्गी में चले आइए न, कुछ देर तक गपशप रहेगी।" मुंशी रामस्वरूप का आग्रह टालने का साहस लालाजी को नहीं हुआ, और वह बिना विवाद के मुंशीजी के साथ बैठ गये।

कुछ देर तक दोनों में इधर-उधर की बातें होती रहीं। इसके बाद एक कौतूहलोद्दीपक विषय की चर्चा छिड़ी। मुंशीजी ने पूछा—"आपने हमारे स्वामीजी को देखा है?"

"स्वामी आलोकानन्द की बात आप कह रहे हैं? आप ही के यहाँ एक बार उसे देखा था। इसमें कोई संदेह नहीं कि वह बड़ा विद्वान्

है। मुझे तो सिद्ध भी मालूम होता है। सबसे तारीफ़ की बात यह है कि अँगरेजी धड़ाधड़ और शान के साथ बोलता है।"

मुंशीजी ने कुछ विमर्ष होकर व्यंग के साथ कहा—"हूँ! आपकी भी यही धारणा है! असल बात यह है, साहब, कि वह 'हिप्नोटाइजर' है, बस! इसके सिवा वह कुछ नहीं है। जब से उसने मेरे घर में 'पदार्पण' किया है, तब से ऐसा धरना दिये बैठा है कि जाने का नाम नहीं लेता! जाने की धमकी दिखाता है तो औरतें रोने लगती हैं। इस बात में उसे बड़ा आनन्द मिलता है। इसलिए प्रायः नित्य वह जाने की धमकी दिखाता है, पर जाता नहीं—क्योंकि औरतें हाथ जोड़कर, मिन्नतें करके, रोकर उसे जाने नहीं देतीं। साधू संन्यासी के नाम से ही हमारी औरतें भक्ति और श्रद्धा से गद्गद हो उठती हैं। तिस पर इस आलोकानन्द स्वामी में एक ख़ास बात यह है (जैसा कि आपने अभी फ़रमाया है) कि वह अँगरेजी बोलने में बड़ा तेज़ है। इससे भी मज़े की बात यह है कि वह नित्य अपना पहनावा बदलता रहता है। कभी-कभी तो वह अँगरेज़ी सूट-बूट में बड़े ठाट-बाट और शान-शौकत से बाहर निकलता है। उसकी 'पर्सनेलिटी' ऐसी जबर्दस्त है कि यह अद्भुत व्यवहार देखकर भी कोई चूँ तक नहीं करता, बल्कि उल्टे उस पर उसके भक्तों की श्रद्धा बढ़ जाती है। वे लोग कहा करते हैं कि 'हमारे स्वामीजी पहुँचे हुए और त्रिगुणातीत हैं। न तो उन्हें अँगरेज़ी पहनावे से आसक्ति है, न लँगोट से घृणा; दोनों उनके लिए समान हैं। साधारण पुरुष उनके इस महत्त्व को नहीं समझ सकते' इत्यादि-इत्यादि। दर्शकों और भक्तों का नित्य ऐसा ताँता मेरे यहाँ रहता है कि उनके लिए 'परसाद' का ख़र्च देते-देते मैं परेशान हो गया हूँ। मज़ा यह है कि 'स्वामीजी महाराज' निर्लोभी हैं और किसी दर्शक की 'भेंट' स्वीकार नहीं करते! एक दिन स्वामीजी को भण्डारा करने की सूझी। बस क्या था, मेरा दिवाला निकाल दिया! इस स्वामी का ख़्याल है कि मैंने कई लाख रुपए जोड़ लिये हैं। इसमें उसका भी

क़सूर नहीं है। शहर के लोग सब मेरे दुश्मन हैं, इसलिए उन्होंने मेरे सम्बन्ध में यह अफ़वाह फैलाकर इस निठल्ले को मेरे हवाले कर दिया है। अब वह मेरे सिर पर सवार हो गया है; और सच पूछिए तो घर का असली मालिक वही बन बैठा है, मैं तो उसके एक अनुचर के सिवा और कुछ नहीं हूँ। जो दर्शक मेरे घर आते हैं वे मुझे आवभगत के लिए धन्यवाद देना तो दूर रहा मेरी ओर मुँह फेरकर देखते तक नहीं। नौकर-चाकर घर का सब काम छोड़कर आठों पहर 'स्वामी' के इन्तज़ार में खड़े रहते हैं। शाम को जब आफ़िस के काम-काज से निबटकर, थककर घर लौटता हूँ तो एक प्याला चाय मुझे देने की फ़ुर्सत किसी को नहीं रहती। और तो और, मेरी घरवाली भी एक बार आकर नहीं पूछती कि तबियत कैसी है? सब औरतें चिक की ओट से बाहर मर्दाने में 'स्वामी' की मजलिस देखने में मशग़ूल रहा करती हैं। मेरे बाल-बच्चे 'स्वामी' को मिनट भर भी नहीं छोड़ना चाहते। अगर आगे भी कुछ दिनों तक यही हाल जारी रहा तो मैं अवश्य ही पागल हो जाऊँगा, आप देखिएगा?" मुंशीजी के मुख पर दारुण विषाद तथा निराशा की एक प्रगाढ़ छाया अङ्कित हो गई।

लाला कन्नोमल अत्यन्त उत्सुकतापूर्वक मुंशीजी की बातें सुन रहे थे। मुंशीजी के चुप होने के बाद भी वह कुछ देर तक आश्चर्य से मुंशीजी की ओर ताकते ही रह गये। फिर सँभलकर बोले—"आप कहते क्या हैं! आपकी सब बातें मुझे रहस्य-भरी मालूम होती हैं। मैं तो इस बदमाश को एक महात्मा समझे बैठा था! अगर बात सचमुच ऐसी ही है तो आप चुप क्यों बैठे हैं? उसे कान पकड़कर बाहर कर दीजिए। आपके घर में एक पाखण्डी साधू, मालिक बनकर बैठ जाय, आपकी बिलकुल पूछ ही न हो, और आप प्रतिरोध करने में असमर्थ हों, यह बात तो मेरी समझ में बिलकुल नहीं आती।"

मुंशीजी को यह देखकर कुछ सन्तोष हुआ कि उनकी बात ने कम-से-कम एक व्यक्ति के हृदय में वास्तविक सहानुभूति उत्पन्न कर दी

है। उन्हें डर था कि एडवोकेट साहब कहीं उनके व्यथित हृदय के उद्‌गार सुनकर खिलखिला न पड़ें। उन्होंने कहा—"आप इस समस्या को जितनी सरल समझे बैठे हैं, असल में यह उतनी सरल नहीं है। आप मेरी स्थिति को सचमुच समझ नहीं सकते। उस शैतान ने घर के प्रत्येक प्राणी की सहानुभूति अपनी ओर आकर्षित कर ली है और अगर मैं कभी भूल से उसे विरुद्ध कुछ कह बैठता हूँ तो सारे घर में प्रलय आ जाता है। श्रीमतीजी 'नास्तिक', 'अधर्मी', 'नारकी' आदि विशेषणों से मेरा श्राद्ध करने लग जाती हैं। अपनी बड़ी लड़की सुभद्रा पर मेरा विश्वास था, पर वह भी उस धूर्त 'स्वामी' का विरोध सहन नहीं करती और उल्टे मुझे डाँट बताने लगती है। मेरे दामाद साहब भी साधू के ही पक्ष में हैं। केवल मेरा तेरह साल का लड़का किशन मेरी तरफ है। वह 'स्वामी' से बहुत चिढ़ता है और उसके पास कभी बुलाने पर भी नहीं जाता। 'स्वामी' उसे जब 'ज्ञान' की बड़ी-बड़ी बातें सुनाने लगता है तो वह तत्काल उसकी बातों का ऐसा मुँहतोड़ जवाब देता है कि 'स्वामी' आगभभूका हो जाता है और अपनी चढ़ी हुईआँखों··हाँ, मैं एक बात आपसे कहना भूल ही गया, 'स्वामी' भङ्ग के अतिरिक्त एक बोतल शराब (कम-से-कम एक बोतल) एक ही दिन में ख़तम कर डालता है। वह कहा करता है कि चित्त की एकाग्रता के लिए 'मधुपान' (स्वामी शराब को शराब नहीं कहता) परमावश्यक है। शराब के लिए और-और चीज़ों की तरह वह मुझसे बेतकल्लुफ़ रुपया माँगने का साहस नहीं करता; पहले उसका ख्याल था कि मैं कायस्थ हूँ, इसलिए शराब जरूर पीता हूँगा, पर जब उसने देखा कि इस सम्बन्ध में मैं बड़ा कट्टर हूँ, तो जरा घबराया, पर रुपये चाहे मैं दूँ या मेरी घरवाली, एक ही बात है। ग़रज़ यह कि उसकी कोई भी इच्छा हमारे घर में अपूर्ण नहीं रहती···"

एडवोकेट साहब वास्तव में 'स्वामी' के प्रति क्रोध से उत्तेजित हो उठे थे। बोले—"देखिए साहब, मुझे शक होता है कि यह शख्स साधू-वाधू कुछ भी नहीं है, वह एक अव्वल नम्बर का गुण्डा है। इसके

पूर्व जीवन में मुझे कोई रहस्य छिपा हुआ मालूम होता है। मैं इस बात का पता लगाके छोड़ूँगा।"

मुंशी रामस्वरूप अविश्वासपूर्वक मुसकराये ; पर उनके इस मुसकराने में मार्मिक वेदना व्यक्त होती थी। कुछ दूर जाकर फिर मुंशीजी लौट चले और लाला कन्नोमल को उनके मकान पर पहुँचाकर अपने बँगले की ओर वापस चले गये।

मरदाने में स्वामी आलोकानन्द की सभा खासी अच्छी जमी हुई थी। बाहर बरामदे में जूते-ही-जूते दिखाई देते थे। स्वामीजी किसी विषय पर व्याख्यान दे रहे थे। मुग्ध भक्तगण स्तब्ध हृदय से सुन रहे थे। मुंशीजी ने बरामदे से एक बार भीतर की ओर झाँका, फिर लौटकर पिछवाड़े के रास्ते से होकर अपने कमरे में चले आये। कमरा बड़ी बुरी हालत में था। क़ालीन के ऊपर जहाँ-तहाँ कूड़ा बिखरा हुआ पड़ा था। पलँग के नीचे उगालदान रक्खा था, जो तीन-चार दिन से साफ़ नहीं किया गया था। सब चीज़ें बेतरतीब रक्खी हुई पड़ी थीं। नौकरों को वास्तव में स्वामीजी के काम से इतनी भी फ़ुर्सत नहीं मिलती थी कि एक बार आकर मुंशीजी के कमरे की सफ़ाई करें। मुंशीजी दाँत पीसकर, मन-ही-मन कुढ़कर, जी मसोसकर रह गये। इधर कुछ दिनों से उनका स्वास्थ्य भी ठीक नहीं था; क़ब्ज की शिकायत थी, जिससे हर वक़्त उनका सिर भारी रहता था। तिस पर घर में स्वामीजी का एकाधिपत्य देखकर वह बहुत बेचैन थे। जूते उतारकर पलँग पर चारों खाने चित लेट गये। कुछ देर के बाद जब कुछ शान्त हुए तो उन्होंने लेटे-लेटे किशन को पुकारा। एक तेरह वर्ष का गोरा-उजला, सुन्दर लड़का उपस्थित हुआ। उसकी तेज-पूर्ण आँखों से भावुकता टपक रही थी। मुंशीजी इस लड़के को बहुत प्यार करते थे। लड़के ने कहा—"मुझे पुकारा था, बाबूजी?"

"देखो, एक गिलास पानी—किसी नौकर को पुकारो—कोई है या नहीं? तुम्हारी अम्मा, जीजी, कमला, रामू ये सब कहाँ हैं?" किशन ने

सिर नीचे कर लिया, मानों सारा दोष उसका हो, और बोला—"परदेसिया और बदलू को स्वामीजी ने कहीं काम से भेजा है और गयादीन को अम्मा ने हर वक्त स्वामीजी के पास बैठे रहने का हुक्म दिया है। अम्मा और जीजी चिक के पास खड़ी हैं। कमला और रामू स्वामीजी के पास हैं। पानी मैं खुद जाकर ले आता हूँ।"

"नहीं, नहीं, रहने दो, तुम मत जाओ, कोई जरूरत नहीं।"

पर किशन ने उनके इस निषेध पर ध्यान नहीं दिया और थोड़ी देर में एक गिलास पानी लेकर पहुँचा। मुंशीजी चारपाई से उठे और गिलास हाथ में लेकर एक साँस में सब पानी पी गये। इसके बाद गिलास मेज पर रखकर फिर लेट गये और आँखें बन्द कर ली। किशन चला गया।

कुछ देर के लिए उन्हें झपकी-सी आई होगी; अचानक अपनी स्त्री और सुभद्रा के बोलने की आवाज सुनकर उनकी आँखें खुलीं। उनकी स्त्री श्यामा की अवस्था चालसि से कुछ कम होगी। वह बड़ी मोटी और ठिंगनी थीं। उनकी बड़ी लड़की सुभद्रा प्रायः बीस वर्ष की होगी। वह अपनी माता की तरह ही कुरूपा थी। वह घमण्डी भी बड़ी थी। वह यथार्थ में इस बात पर विश्वास करती थी कि उसके समान रूपवती और गुणवती स्त्रियाँ संसार में बहुत कम हैं। श्यामा के हाथ में एक दोना था, उसमें कुछ मिठाई, किशमिश, बदाम, काजू, छीले हुए सेब का एक टुकड़ा और सन्तरे की दो फाँकें थीं मुंशीजी को आँखें बन्द करके लेटे हुए देखकर वह बड़बड़ाती हुई बोलीं—"रात-भर तो खूब आराम से सोते रहे, अब फिर बेवक्त सोने की यह आदत कब से सीखी?" मुंशीजी ने खीझकर उनकी ओर देखा। श्यामा ने कहा—"लीजिए, यह परसाद लाई हूँ। आज पूनो है; स्वामीजी ने सत्यनारायण की कथा बाँची थी। स्वामीजी सुबह को ही कथा बाँचा करते है।" यह कहकर उन्होंने दोना आगे बढ़ाकर मुंशी रामस्वरूप को देना चाहा। कुछ देर तक मुंशीजी अपनी स्त्री की ओर ताकते ही रहे, फिर करवट बदल कर लेट गये।

भरी हुई, बाहर जाने लगीं जैसे अभी बोरिया-बधना बाँधकर सचमुच मायके जाने की तैयारी करना चाहती हों। सुभद्रा ने उन्हें हाथ से पकड़कर रोका। वह अपने को छुड़ाती हुई कहने लगीं—"छोड़ दे सुभद्रा, मुझे मत रोक। मैं एक मिनट भी इस घर में नहीं रहना चाहती। जिस घर में साधू-संन्यासी का अपमान हो, देवता का भी सम्मान न हो, स्त्री जूतों से ठुकराई जाय (श्यामा की इस अन्तिम उक्ति में कितनी सचाई थी, हम नहीं कह सकते—लेखक) उस घर में रहना पाप है। लड़के को भी इन्होंने अपनी ही तरह नास्तिक बना लिया है। वह स्वामीजी से बहस करता है और बात-बात में उन्हें टोकता रहता है। नहीं मैं यहाँ नहीं रहूँगी। मायके में मेरे लिए किसी बात की कमी नहीं है (श्यामा के मायके में फूफी को छोड़कर और कोई नहीं था; और वह भी दूसरे के आश्रय में रहती थी)। बाल-बच्चों को लेकर वहाँ आराम से रहूँगी, छोड़ दे सुभद्रा, मैं जाती हूँ।" यह कहकर वह फिर एक बार अपने को छुड़ाकर जाने की चेष्टा करने लगीं; पर इस बार प्रतिरोध प्रबल नहीं था।

सुभद्रा ने अवकाश पाकर मुंशीजी से कहा—"बाबूजी, यह बात तो अच्छी नहीं है। आपने स्वामीजी के दिये हुए प्रसाद को इस प्रकार फेंक दिया!"

मुंशीजी की सूरत खिसियानी-सी हो रही थी। उनके मुख पर अत्यन्त दीनता का भाव वर्तमान था। स्त्री के प्रलय रूप और लड़की के तिरस्कार से बौखलाये-से थे। हाथ जोड़कर कातर स्वर में बोले—"माफ़ करो बेटी, माफ़ करो! मेरा ही क़सूर है, मैं मानता हूँ। सारा क़सूर मेरा है! तुम ठीक कहती हो। स्वामीजी मेरे घर आकर मेरे ही ख़र्च से भक्तों को खिला-पिलाकर मुझे कृतार्थ कर रहे हैं, इसमें कोई शक नहीं। इतना रुपया उनकी सेवा में ख़र्च करने पर भी वह मुझे 'मूर्ख' कहकर डाँटते रहते हैं, यह मेरा अहोभाग्य है। उन्होंने मुझसे मेरे बाल-बच्चों

को छुड़ा दिया है, मेरे नौकरों पर मेरा कोई अधिकार नहीं रहा, प्यास लगने पर एक गिलास पानी वक्त पर मुझे नहीं मिलता, यह उगालदान देख रही हो, आज तीन दिन से यह इस जगह पर ज्यों-का-त्यों रक्खा है, किसी ने इसे साफ़ करना ज़रूरी नहीं समझा, कमरे में इतना कूड़ा पड़ा है, नौकरों ने अब झाड़ू देना भी छोड़ दिया। यह सब होने पर भी मैं ही दोषी हूँ, क्योंकि मैं चौबीसों घण्टे स्वामी···जी की खुशामद के लिए उसके···उनके पास नहीं बैठा रहता—यह है तुम्हारी अम्माँ का न्याय! ठीक है, मैं माफ़ी माँगता हूँ,—तुमसे भी, तुम्हारी अम्माँ से भी और स्वामीजी··से भी, ! बस, जाओ! मुझे माफ़ करो। मुझे इस समय ज़रा सोने दो, मेरी तबियत ख़राब है!" यह कहकर वह मुँह फेरकर लेट गये।

"नहीं, सारा दोष मेरा है! आपका नहीं!" यह कहकर श्यामा फ़र्श पर बैठकर दोनों हाथों से अपना सिर पीटने लगीं। वह कहती चलीं गईं—"मेरा दोष है! मेरा दोष है! पच्चीस वर्ष की पति-सेवा का अन्त को यह फल मुझे मिला! इससे मेरा मरना अच्छा है! मैं आज अभी यहीं पर मरती हूँ!" यह कहकर वह फिर अपना सिर पीटने लगीं। सुभद्रा उनका हाथ थामकर उन्हें रोकने लगी, पर उनके सिर पर मानो भूत सवार हो गया था। मुँशीजी भी यह हाल देखकर घबराकर उठ खड़े हुए। यद्यपि ऐसे दृश्यों को देखने के वह आदी हो गये थे, तथापि उनकी घबराहट कभी कम न हुई। इस बार भी वह विचलित हो उठे। हल्ला सुनकर दूसरे कमरे से किशन भी आ पहुँचा। कमला और रामू भी थोड़ी देर में आ उपस्थित हुए। सुभद्रा ने कमला से कहा—"जा जल्दी जीजाजी को बुला ला!" कमला दौड़ती हुई गई। थोड़ी देर में एक सुन्दर वस्त्रों से सुसज्जित हृष्ट-पुष्ट युवक आ पहुँचा। इस युवक का नाम रामलाल था। इनके घर की हालत अच्छी नहीं थी, इसलिए ससुराल से इन्हें बड़ा प्रेम था। इण्टरमीडियेट में तीन साल लगातार फ़ेल होने पर इन्होंने परीक्षकों की मूर्खता को धिक्कार कर आगे पढ़ना छोड़ दिया था। आजकल आप मुँशीजी के घर के प्रबन्धक का कार्य कर रहे थे

और स्वामी आलोकानन्द की चरण-सेवा करके सास के प्रियपात्र बन गये थे।

रामलाल ने आते ही मुंशीजी की ओर क्रूर दृष्टि फिराकर अपनी स्त्री से पूछा—"क्या मामला है?" सुभद्रा ने आँसू पोंछते हुए अपने पिता की ओर इशारा किया। रामलाल ने मुंशीजी को इस तरह डाँटना शुरू कर दिया, मानों वह एक अदने से बच्चे हों। बोले—"बड़ी शरम की बात है! आप खामखा बात-बात पर माँजी को परेशान किया करते हैं! आप जानते हैं, उनका स्वास्थ्य अच्छा नहीं है, फिर भी आप अपनी कड़वी बातों से बाज़ नहीं आते! बड़ी शरम की बात है।"

मुंशीजी के चेहरे का रंग उड़ गया था और वह पत्थर की मूर्ति की तरह स्तब्ध होकर दामाद की ओर देख रहे थे। पर उनका तेरह वर्ष का लड़का किशन अपने सरल-स्वभाव-अत्याचार-पीड़ित पिता का यह निदारुण अपमान न सह सका। क्रोध के कारण उसके गाल फूल गये थे और आँखों से आँसू निकलने लग गये थे। सहसा वह रामलाल के पास ही आकर खड़ा हो गया और कण्ठ-स्वर को यथाशक्ति दृढ़ करके बोला—"बाबूजी का अपमान करने का आपको कोई अधिकार नहीं है!" उसका यह आकस्मिक भाव देखकर सब चकित रह गये। श्यामा भी स्तब्ध रह गई। रामलाल पहले कुछ चकराये, फिर क्रोध से दाँत पीसते हुए, झल्लाकर बोले—"तुम? तुम्हारी यह हिमाकत? चलो, हटो यहाँ से!" यह कहकर उन्होंने एक तमाचा उसके गाल पर जड़ दिया। पाँचों उँगलियों के साँचे लड़के के कोमल, गोरे गाल पर पड़ गये, पर वह रोया नहीं। उसी दृढ़ता से बोला—"मुझे आप मार सकते हैं, पर बाबूजी का अपमान मैं सहन नहीं करूँगा।" रामलाल फिर उसे मारना चाहते थे, पर सुभद्रा ने उन्हें रोका। इस विरोधी समाज में अपने प्रति अपने पुत्र की समवेदना देखकर मुंशीजी की आँखों से स्नेहाश्रु उमड़ आये।

बड़ी मुश्किल से उस दिन का प्रलयकाण्ड किसी तरह शान्त हुआ।

× × ×

मुंशीजी जमीन की नाप-जोख करने, बड़ी-बड़ी इमारतों के 'प्लान' और एस्टिमेट तैयार करने में सिद्धहस्त थे। जब वह रुड़की के इञ्जीनियरिङ्ग कालेज में पढ़ते थे तो उनके सहपाठियों का कहना था कि वह गणित के बड़े-बड़े जटिल प्रश्नों को मिनटों में नाखून पर हल कर देते थे। गणित के सम्बन्ध में इतनी सूक्ष्म बुद्धि होने से ही शायद सांसारिक विषयों में उनकी बुद्धि इतनी स्थूल थी। यही कारण था कि इतने वर्षों से वह गृहस्थी का असह्य अत्याचार चुपचाप बिना किसी शिकायत के सहते करते चले जाते थे। स्वामी आलोकानन्द की ज्यादतियों को भी वह निःशब्द सहन करने के लिए तैयार थे, पर अब उनकी सहनशीलता पर ऐसा अधिक भार डाला जा रहा था कि कभी-कभी वह असह्य यातना अनुभव करने के कारण कराह उठते थे। उस दिन का कुहराम उसी कराह का फल था।

पूर्वोक्त घटना के तीन-चार दिन बाद की बात है। मुंशीजी अपेक्षाकृत शान्त भाव से अपने कमरे में बैठे अख़बार पढ़ रहे थे। अचानक स्वामी आलोकानन्द आ खड़े हुए। स्वामीजी वास्तव में एक दर्शनीय पुरुष थे। उनकी अवस्था पैंतीस और चालीस के बीच होगी। चेहरा सुन्दर था, डीलडौल में न बहुत मोटे न बहुत पतले, न बहुत लम्बे न बहुत नाटे थे। रेशम के गेरुए वस्त्र पहने थे। बड़ी-बड़ी घुँघराली लटें सिर के पीछे की ओर लटक रही थीं। सबसे अधिक रहस्यमय उनकी आँखें थीं, जो बहुत छोटी थीं, और उस पर भी प्रायः सब समय आधी बन्द रहती थीं। इसलिए यह मालूम करना कठिन हो जाता था कि उनमें क्या भाव भरा है। अक्सर एक रहस्यमय कुटिल मुसकान उनके इर्द-गिर्द झलका करती थी।

स्वामीजी को आज अकस्मात् अपने कमरे में आते देखकर मुंशीजी बड़े चकराये। यह आज एक नई बात थी, क्योंकि इसके पहले स्वामीजी कभी मुंशीजी के कमरे में नहीं आये थे। मुंशीजी त्रस्त-व्यस्त होकर उठ खड़े हुए और हाथ जोड़कर एक कुर्सी उन्होंने स्वामीजी के लिए आगे बढ़ा दी। स्वामीजी ने बैठते ही बिना किसी भूमिका के अपना वक्तव्य शुरू कर दिया—"मैं आपका अधिक समय नहीं लेना चाहता। मैं केवल यही कहने के लिए आया हूँ कि आपको मेरे कारण बहुत कष्ट हो रहा है, इसलिए अब आपको अधिक कष्ट नहीं देना चाहता। आज ही काशी चले जाने का विचार है।" यदि स्वामीजी सहज, स्वाभाविक रूप से कहते कि अपने किसी काम से अथवा भक्तों के बुलावे से वह काशी जा रहे हैं तो मुंशीजी प्रसन्न होते कि चलो छुटकारा मिला। पर स्वामीजी ने भूमिका का जैसा सिलसिला बाँधा था, वह ख़तरनाक था। वह परिणाम का ख्याल करके बहुत घबराये। दीनभाव से हाथ जोड़कर बोले—"स्वामीजी महाराज, मैं तो आपका दास हूँ। आप मेरे यहाँ आसन जमाकर मुझे कृतार्थ कर रहे हैं, यह बात क्या मैं नहीं जानता? भला आपके रहने से मुझे कष्ट क्यों होगा! मैं हाथ जोड़ता हूँ, आप कहीं न जायँ। मेरी लाज आपके हाथ में है। आप जायँगे तो मैं कहीं का न रहूँगा।" अन्तिम वाक्य मुंशीजी ने अपने अंतःकरण से कहा था, उन्हें अपनी स्त्री के प्रलय-रूप का ख्याल आ रहा था।

इस दीनता से उत्साहित होकर स्वामीजी ने रोब गाँठना शुरू कर दिया—"देखिए मुंशीजी, आप अच्छी तरह जानते हैं, मैं किसी स्वार्थ-भाव ना से प्रेरित होकर आपके यहाँ नहीं आया हूँ। मैंने देखा कि आप लोगों की (विशेषकर आपकी श्रीमतीजी की) मेरे प्रति श्रद्धा है। भक्तों के आह्वान को मैं टाल नहीं सकता। आप लोगों के बुलाने पर ही मैं आया था। ख्याल था कि कठोर योग-साधन के बाद जिस निर्गुण, निराकार परमतत्त्व के दिव्य दर्शन से मैं कृतार्थ हुआ हूँ, उसके स्वरूप से आप लोगों को भी परिचित करा दूँ। पर इधर कुछ दिनों से मैं इस बात

पर ग़ौर कर रहा हूँ कि आप मेरे प्रति विमुख होते जाते हैं। घर और बाहर के सब लोग मेरे दर्शनों से अपने को कृतार्थ समझ रहे हैं (आप जानते हैं, मैं स्पष्टवादी हूँ, और अधिकारपूर्वक यह बात कह रहा हूँ, क्योंकि मैं सिद्ध स्वामी हूँ, मैं Superman हूँ, और सगर्व इस तथ्य को घोषित करता हूँ—आपने कभी नीत्शे पढ़ा है ?) पर आप मुझे एक साधारण साधू समझकर मुझसे घृणा करने लगे हैं। ऐसी हालत में आपके यहाँ रहना मैं नहीं चाहता।"

मुँशी रामस्वरूप कंदलीदल की तरह काँप रहे थे। स्वामीजी के प्रत्येक शब्द से ऐसा आत्मविश्वास टपकता था कि उन्हें सचमुच स्वामीजी की महत्ता पर कुछ-कुछ विश्वास-सा होने लगा था। पर यह प्रश्न उनके लिए गौण था। उन्हें तो सारा भय इस बात का था कि स्वामीजी के इस तरह नाराज़ होकर चले जाने से श्यामा, सुभद्रा और रामलाल मिलकर जो लङ्काकाण्ड मचा देंगे, वह असहनीय होगा। उन्होंने पूर्ववत् हाथ जोड़कर विनीत स्वर में कहा—"नहीं स्वामीजी महाराज, आप ऐसा ख्याल भूलकर भी न करें। मैं तो आपका ताबेदार हूँ, और वास्तव में आपको एक महापुरुष समझता हूँ। आप नहीं जानते कि आपके इस तरह चले जाने से मेरी क्या गति होगी।"

पर स्वामीजी की कठोरता बढ़ती चली गई। वह कण्ठ स्वर को अधिकाधिक कर्कश करके बोले—"आप समझते होंगे मैं 'उदरनिमित्तम्' आपके यहाँ आया हूँ। नहीं, मेरा आदर्श इससे बहुत ऊँचा है। पर आपने मेरा अनादर किया है, इसलिए मैं जाता हूँ, अभी जाता हूँ। आप इञ्जिनियरिङ्ग का काम भले ही समझते हों, पर गीता और उपनिषद् का महत्त्व कदापि नहीं समझ सकते। ईशावास्यमिदं सर्व— कितनी मर्तबा इसका अर्थ मैंने आपको समझाने की चेष्टा की, पर सब व्यर्थ। आपकी सांसारिक बुद्धि में इस प्रकार की आध्यात्मिक बातें प्रवेश ही नहीं कर पाती। मैंने उस दिन कहा था, मैं गुप्त आत्माओं को, जो हमसे विभिन्न स्तर में निवास करती हैं, (मैंने आइनस्टाइन का भी

स्वामीजी को आज अकस्मात् अपने कमरे में आते देखकर मुंशीजी बड़े चकराये। यह आज एक नई बात थी, क्योंकि इसके पहले स्वामीजी कभी मुंशीजी के कमरे में नहीं आये थे। मुंशीजी त्रस्त-व्यस्त होकर उठ खड़े हुए और हाथ जोड़कर एक कुर्सी उन्होंने स्वामीजी के लिए आगे बढ़ा दी। स्वामीजी ने बैठते ही बिना किसी भूमिका के अपना वक्तव्य शुरू कर दिया—"मैं आपका अधिक समय नहीं लेना चाहता। मैं केवल यही कहने के लिए आया हूँ कि आपको मेरे कारण बहुत कष्ट हो रहा है, इसलिए अब आपको अधिक कष्ट नहीं देना चाहता। आज ही काशी चले जाने का विचार है।" यदि स्वामीजी सहज, स्वाभाविक रूप से कहते कि अपने किसी काम से अथवा भक्तों के बुलावे से वह काशी जा रहे हैं तो मुंशीजी प्रसन्न होते कि चलो छुटकारा मिला। पर स्वामीजी ने भूमिका का जैसा सिलसिला बाँधा था, वह ख़तरनाक था। वह परिणाम का ख्याल करके बहुत घबराये। दीनभाव से हाथ जोड़कर बोले—"स्वामीजी महाराज, मैं तो आपका दास हूँ। आप मेरे यहाँ आसन जमाकर मुझे कृतार्थ कर रहे हैं, यह बात क्या मैं नहीं जानता? भला आपके रहने से मुझे कष्ट क्यों होगा! मैं हाथ जोड़ता हूँ, आप कहीं न जायँ। मेरी लाज आपके हाथ में है। आप जायँगे तो मैं कहीं का न रहूँगा।" अन्तिम वाक्य मुंशीजी ने अपने अंतःकरण से कहा था, उन्हें अपनी स्त्री के प्रलय-रूप का ख्याल आ रहा था।

इस दीनता से उत्साहित होकर स्वामीजी ने रोब गाँठना शुरू कर दिया—"देखिए मुंशीजी, आप अच्छी तरह जानते हैं, मैं किसी स्वार्थ-भाव ना से प्रेरित होकर आपके यहाँ नहीं आया हूँ। मैंने देखा कि आप लोगों की (विशेषकर आपकी श्रीमतीजी की) मेरे प्रति श्रद्धा है। भक्तों के आह्वान को मैं टाल नहीं सकता। आप लोगों के बुलाने पर ही मैं आया था। ख्याल था कि कठोर योग-साधन के बाद जिस निर्गुण, निराकार परमतत्त्व के दिव्य दर्शन से मैं कृतार्थ हुआ हूँ, उसके स्वरूप से आप लोगों को भी परिचित करा दूँ। पर इधर कुछ दिनों से मैं इस बात

पर ग़ौर कर रहा हूँ कि आप मेरे प्रति विमुख होते जाते हैं। घर और बाहर के सब लोग मेरे दर्शनों से अपने को कृतार्थ समझ रहे हैं (आप जानते हैं, मैं स्पष्टवादी हूँ, और अधिकारपूर्वक यह बात कह रहा हूँ, क्योंकि मैं सिद्ध स्वामी हूँ, मैं Superman हूँ, और सगर्व इस तथ्य को घोषित करता हूँ—आपने कभी नीत्शे पढ़ा है ?) पर आप मुझे एक साधारण साधू समझकर मुझसे घृणा करने लगे हैं। ऐसी हालत में आपके यहाँ रहना मैं नहीं चाहता।"

मुँशी रामस्वरूप कंदलीदल की तरह काँप रहे थे। स्वामीजी के प्रत्येक शब्द से ऐसा आत्मविश्वास टपकता था कि उन्हें सचमुच स्वामीजी की महत्ता पर कुछ-कुछ विश्वास-सा होने लगा था। पर यह प्रश्न उनके लिए गौण था। उन्हें तो सारा भय इस बात का था कि स्वामीजी के इस तरह नाराज़ होकर चले जाने से श्यामा, सुभद्रा और रामलाल मिलकर जो लङ्काकाण्ड मचा देंगे, वह असहनीय होगा। उन्होने पूर्ववत् हाथ जोड़कर विनीत स्वर में कहा—"नहीं स्वामीजी महाराज, आप ऐसा ख्याल भूलकर भी न करें। मैं तो आपका तावेदार हूँ, और वास्तव में आपको एक महापुरुष समझता हूँ। आप नहीं जानते कि आपके इस तरह चले जाने से मेरी क्या गति होगी।"

पर स्वामीजी की कठोरता बढ़ती चली गई। वह कण्ठ स्वर को अधिकाधिक कर्कश करके बोले—"आप समझते होंगे मैं 'उदरनिमित्तम्' आपके यहाँ आया हूँ। नहीं, मेरा आदर्श इससे बहुत ऊँचा है। पर आपने मेरा अनादर किया है, इसलिए मैं जाता हूँ, अभी जाता हूँ। आप इञ्जिनियरिङ्ग का काम भले ही समझते हों, पर गीता और उपनिषद् का महत्त्व कदापि नहीं समझ सकते। ईशावास्यमिदं सर्वं—कितनी मर्तबा इसका अर्थ मैंने आपको समझाने की चेष्टा की, पर सब व्यर्थ। आपकी सांसारिक बुद्धि में इस प्रकार की आध्यात्मिक बातें प्रवेश ही नहीं कर पाती। मैंने उस दिन कहा था, मैं गुप्त आत्माओं को, जो हमसे विभिन्न स्तर में निवास करती हैं, (मैंने आइनस्टाइन का भी

अध्ययन किया है; आपको दिखा सकता हूँ, पर आपने मेरी बात हँसी में टाल दी। आप विधर्मी, नास्तिक और अज्ञानी हैं, आपके यहाँ रहना मेरा धर्म नहीं है। मैं जाता हूँ"

स्वामीजी उठकर वहाँ से चल देने का भाव दिखाने लगे, और सम्भव है चले भी जाते, पर इसी बीच एक ऐसी घटना हो गई जिसने सारी स्थिति ही बदल दी और मुंशीजी को बड़े आश्चर्य में डाल दिया।

स्वामीजी ने एक पग दरवाज़े की ओर बढ़ाया ही था कि बाहर से दो नौकर दौड़े आये और हाँफते हुए यथाशक्ति धीमी आवाज़ में बोले—"स्वामीजी, आपकी खोज में पुलिस आई है!"

"पुलिस!"—स्वामीजी के मुँह से एक चीख़ निकली और उनके चेहरे का रङ्ग एकदम फीका पड़ गया। इतने में रामलाल भी वहाँ दौड़े आये और उनके साथ ही स्वामीजी के बहुत से भक्तगण भी घबराये हुए भीतर घुस पड़े—घबराहट की अवस्था में शिष्टाचार का ख्याल भी किसी को न रहा। सभी के मुँह से सुना जाता था—"पुलिस! पुलिस!" मुंशीजी विमूढ़ावस्था में अपने स्थान पर स्थिर बैठे थे। उनकी समझ में न आता था कि बात क्या है। इतने में सचमुच पुलिस के अफ़सर के साथ दो कान्स्टेबल मुंशीजी के कमरे में आ उपस्थित हुए। पुलिस अफ़सर को देखकर मुंशीजी उठ खड़े हुए और यथासम्भव शान्त भाव से उन्होंने पूछा—"आप क्या चाहते हैं?" अफ़सर ने वारण्ट दिखाकर कहा कि "मैं स्वामी आलोकानन्द की खोज में आया हूँ।"

पर स्वामीजी वहाँ कहाँ! कमरे में भीड़ जमा होते ही वह ऐसे बे-मालूम ग़ायब हो गये थे कि किसी को पता तक न चला। मुंशीजी क्रोध से काँपने लगे थे। वह सोच रहे थे कि इस स्वामी के कारण उनके यहाँ आज पुलिस का प्रथम आगमन हुआ जिससे उनका घर कलङ्कित हो गया। उन्होंने कड़ककर एक नौकर से कहा—"कहाँ गया वह उल्लू का पठा स्वामी? कान पकड़के उसे यहाँ पर घसीट लाओ! जाओ!"

थोड़ी देर में नौकर लौटकर आया और मुंशीजी से बोला—"सरकार,

स्वामीजी का कहीं पता नहीं लगता !" पुलिस-अफ़सर ने आश्चर्य से कहा—"पता नहीं लगता ? यह कैसे सम्भव हो सकता है ? मैंने हरएक दरवाज़े पर कड़ा पहरा बैठा रक्खा है, और अपने आदमियों को यह हुक्म दिया है कि एक आदमी भी बाहर जाने न पाये। स्वामीजी निश्चय ही कहीं भीतर छिपे हैं। माफ़ कीजिए साहब, मुझे तलाशी लेनी होगी। आप सब औरतों को एक अलग कमरे में बैठा दीजिए !"

सब स्त्रियाँ एक कमरे में बैठा दी गईं। पुलिस-अफ़सर ने सारे घर की ख़ाक छान डाली, पर कहीं पता न चला। अन्त में उन्होंने मुंशीजी से कहा—"माफ़ कीजिए, हमें ज़नाना कमरा भी देखना होगा।" मुंशीजी के दुःख और क्रोध का ठिकाना नहीं था। पर लाचार थे। जनाने कमरे में पहुँचकर पुलिस-अफ़सर ने कहा—"आप पहले एक-एक करके अपने घर की औरतों को पहचान लीजिए।" सब स्त्रियाँ बैठी हुई थीं, और कनखियों से झाँक रही थीं। केवल एक स्त्री बड़ा लम्बा घूँघट काढ़कर सिर नीचा किये बैठी थी। मुंशीजी ने उसका घूँघट हटाने की चेष्टा की, पर उसने बड़े नाज़ से उनका हाथ अलग हटा दिया। श्यामा ने बिगड़कर कहा—"किसी पराई स्त्री का घूँघट हटाते शरम नहीं मालूम होती ? वह मेरी सौतेली बहन है। मुझसे मिलने आई है।"

"सौतेली बहन ! तुम्हारी कोई सौतेली बहन भी है, यह बात तो मुझे आज मालूम हुई।"

सुभद्रा ने भी कहा कि वह मेरी मौसी है। इतने में मुंशीजी का पाँच साल का लड़का रामू, जो श्यामा के पास खड़ा था, बोल उठा—"स्वामोजी को जीजी मौछी बता लही है !" यह कहकर वह मज़े में हँसा। सबके कान खड़े हो गये और मौसी भी जरा छटपटाने लगीं। पुलिस-अफ़सर ने कहा—"घूँघट खोलकर देखिए साहब, नहीं तो ज़बर्दस्ती करनी पड़ेगी।" पर मुंशीजी को कष्ट न उठाना पड़ा। 'मौसी' स्वयं उठकर जो चादर ओढ़े हुए थीं उसे उतारकर किसी दैवी माया से स्वामी आलोकानन्द के रूप में परिणत हो गईं। पुलिस-अफ़सर ठठाकर

हँस पड़े। स्वामीजी रोते हुए उनके पैरों पर जा गिरे और बोले—"कृपानिधान, मैं आपकी शरण में हूँ, मुझे बचाइए!" स्वामीजी की यह आर्त्त दशा देखकर स्त्रियों में चञ्चलता छा गई थी और श्यामा तो सचमुच रोने लगी थीं। मुंशीजी उनके उस रोने से ऐसा क्रोधित तथा उत्तेजित हो उठे कि यथाशक्ति चिल्लाकर और ज़मीन पर पाँव पटककर बोले—"चुप रहो! नहीं तो मैं तुमको भी अभी 'स्वामी' के साथ घर से बाहर निकाल दूँगा।" सब लोग उनके इस व्यवहार से स्तम्भित रह गये।

स्वामीजी के हाथ में हथकड़ी पड़ गई और वह अपने भक्तजनों की भीड़ के साथ-साथ थाने में ले जाये गये।

दूसरे दिन लाला कन्नौमल से मुंशीजी को मालूम हुआ कि कुछ वर्ष पहले एक वेश्या के प्रेम में फँस जाने के कारण स्वामीजी ने अपने किसी प्रतिद्वन्द्वी की हत्या की थी। तब वह 'संन्यासी' नहीं बने थे। उसी अपराध में इतने समय के बाद वह अब गिरफ्तार हो सके हैं।

———

प्रेतात्मा

शाहजहाँपुर से प्रायः सोलह-सत्रह मील की दूरी पर एक छोटी-सी रियासत है। इतनी छोटी कि उसे रियासत नहीं, बल्कि जमींदारी कहना ही उचित होगा। प्रायः पन्द्रह वर्ष पहले की बात है। मैं अपने एक मित्र की सिफ़ारिश से वहाँ हेडमास्टरी के पद पर नियुक्त होकर गया हुआ था। जिस स्कूल में मैं नियुक्त हुआ था वहाँ आठवें दर्जे तक की पढ़ाई होती थी। वेतन भी उसी के अनुरूप था——अर्थात् साठ रुपया प्रतिमास। मेरी आर्थिक स्थिति उस समय घोर सङ्कटमय थी। इसलिए मैंने इस नियुक्ति से अपने को परम धन्य माना और नियुक्ति-पत्र पाते मैंने बिना विलम्ब के उसी दिन शाम को शाहजहाँपुर की गाड़ी पकड़ी। प्रायः दो बजे रात शाहजहाँपुर पहुँचा। रात भर प्लेटफ़ार्म पर पड़ा रहा। सवेरे बस में सवार होकर यथासमय गन्तव्य स्थान पर पहुँचा। पहुँचते ही प्राइवेट सेक्रेटरी पण्डित रामदयाल दीक्षित से मिला। दीक्षितजी ने अपना एक आदमी बुलाकर मुझे लक्ष्य करते हुए उससे कहा——"आपको रामबाग़वाली कोठी पर ले जाओ, आप वहीं रहेंगे। नौकर का प्रबन्ध भी आपके लिए कर देना।"

मालूम हुआ कि रामबाग़वाली कोठी प्राइवेट सेक्रेटरी साहब की कोठी से प्रायः दो कोस की दूरी पर है। एक इक्का मँगाया गया। युक्त-प्रान्त के छोटे शहरों तथा क़सबों में जिन लोगों को इक्के पर सवार होने का सौभाग्य या यों कहिए कि दुर्भाग्य प्राप्त नहीं हुआ, उन लोगों को समझाया नहीं जा सकता कि यह सवारी कौन-सी आफ़त है। मरियल घोड़ा, रबर टायर रहित, कितने ही पुश्तों के कीचड़ से परिपुष्ट काष्ठ-चक्र और आदि-मध्याह्न रहित, दशाहीन गद्दे से पूरित टूटा हुआ काष्ठामा। इन अमूल्य उपकरणों से युक्त यह सवारी एक अपूर्व दर्शनीय

वस्तु होती है। प्राइवेट सेक्रेटरी साहब के आदमी ने जो खद्दरधारी थे, किन्तु पक्के दरबारी जान पड़ते थे, मुझ पर कृपा करके इसी प्रकार की एक सवारी का प्रबन्ध किया। दोनो उस पर सवार होकर राजबाग़ की ओर चले। घोड़े का सब हड्डियाँ बाहर निकली हुई थीं, जो एक-एक करके गिनी जा सकती थीं। पीठ की चमड़ी स्थान-स्थान पर चाबुक की मार के कारण छिली हुई थीं, नितम्ब-प्रदेश के दोनो ओर ताज़े घाव वर्तमान थे, जिन पर मक्खियाँ बैठ रही थीं। घोड़ा बार-बार परेशान होकर पूँछ से उन्हें उड़ाता था। वे भिनककर एक बार हमारे नाक-मुँह छूकर फिर उड़कर तत्काल उन्हीं घावों पर बैठ जाती थीं; फिर उड़कर हमारे मुँहों पर आती थीं, फिर घोड़े की पीठ के घावों का रसास्वादन करने लगती थीं। कच्ची सड़क पर इक्का चल रहा था। हिचकोलों का मज़ा लेते हुए हम लोग चले जाते थे। घोड़ा चल नहीं सकता था। खद्दरधारी सज्जन इक्केवाले को डाँटकर कहते थे कि "तेज़ हाँको!" इक्केवाला निर्भय होकर उन्हीं घावों के ऊपर सपाट-सपाट करके 'चाबुक' (अर्थात् काँटेदार सोंटा) चला रहा था, पर घोड़ा निर्विकार उदासीनता के साथ अपनी ही साधारण गति से चला जाता था ऐसा मालूम होता था, जैसे उसके शरीर में वेदना की उस अनुभूति का लेश भी शेष नहीं रहा है, जो जीवित प्राणीमात्र में वर्तमान होती है; जैसे उसका कङ्कालावशेष शरीर जीवित लोक के सुख-दुःखों के अनुभव से एकदम परे होकर किसी प्रेतलोक में विचरण कर रहा हो।

रियासत का अतिथि होने पर भी मुझे कोई अच्छी सवारी न मिलकर ऐसा इक्का मिला। यह मेरे भाग्य का ही दोष था। निरतिशय खिन्न होकर मैं भी मन में घोड़े की ही तरह निर्विकार भाव लाने की चेष्टा करने लगा। पर रियासत में प्रवेश करते ही नये जीवन का श्रीगणेश इस प्रकार होते देखकर मेरा मन भविष्य के अमङ्गल की आशङ्का से भयभीत हो उठा! मैं अन्ध-विश्वासी हूँ और शकुन-अपशकुन का बड़ा ख़याल रखता हूँ। ख़ैर।

किसी तरह रामबाग़ की कोठी पर पहुँचा। बाग़ काफ़ी बड़ा था, पर दीर्घकाल से परित्यक्तावस्था में पड़ा था, ऐसा मालूम होता था ; और अब बाग़ न रहकर जङ्गल में परिणत हो गया था। उस जङ्गल के बीच में एक बहुत बड़ी कोठी प्रायः खण्डहर के रूप में पड़ी हुई थी। कमरे सभी बड़े-बड़े थे : सभी दीवारों से पलस्तर गिर गया था और यत्र-तत्र ईंटें भी खिसक गई थीं। स्थान-स्थान में छतों पर, कोनों पर मकड़ी के जाले तने हुए थे और छिपकलियाँ इधर-उधर दौड़ रही थीं। सारा वातावरण ऐसा सूना था कि धीमी आवाज़ में बोलने पर भी प्रतिध्वनि कोठी के एक कोने से दूसरे कोने तक भयङ्कर रूप से गूँज उठती थी।

मेरे साथी ने बड़ी मधुरता से आदर-भरे शब्दों में मुझसे कहा—आप यहीं रहिए, मैं वापस जाकर एक नौकर आपके लिए भेजता हूँ। दो-एक दिन बाद एक महराज का प्रबन्ध भी आपके लिए हो जायगा। अभी आप बाज़ार से कुछ मँगाकर खा लीजिएगा।'

मैं अपनी स्थिति देखकर ऐसा घबरा गया था कि एक शब्द भी मेरे मुँह से नहीं निकलना चाहता था। कुछ देर तक बुद्धू की तरह अपने साथी का मुँह ताकता रह गया। फिर कुछ स्थिर होकर मैंने कहा—'अच्छा, आप जाइए और नौकर को भेज दीजिए। एक चारपाई का प्रबन्ध भी कर दीजिएगा।'

'हाँ-हाँ, मैं अभी सब कुछ ठीक किये देता हूँ, आप निश्चिन्त रहिए। —कहकर हजरत चल दिये। मैं निश्चित होकर अपनी स्थिति पर ग़ौर करने लगा। सारी कोठी अपने सूनेपन से भाँय-भाँय कर रही थी। कहीं कोई पुरानी कुर्सी, स्टूल या तख्त नहीं था कि बैठकर जरा दम लेता। लाचार बाहर बराण्डे में आकर अन्यमनस्क भाव से टहलने लगा। अकस्मात् अप्रत्याशित रूप में किसी सजीव प्राणी को इस दीर्घ परित्यक्त आवास में आते देख ताड़, खजूर, अर्जुन, नीम, इमली आदि पेड़ों पर के पक्षी त्रस्त भाव से फड़फड़ाने लगे। बन्दर भी घबराकर इस पेड़ से उस पेड़ पर और उस पेड़ से इस पेड़ पर कूदने लगे।

प्रायः दो घण्टे बाद एक आदमी एक खटिया, एक मिट्टी का घड़ा एक लोटा, एक गिलास और एक लालटेन लेकर आया। खटिया रखकर घड़ा लेकर पास ही किसी कुएँ से पानी भर लाया और बोला--'नहा लीजिए। और बाजार से खाने को कुछ मँगाना हो तो पैसा दीजिए।' मालूम हुआ कि बाज़ार भी वहाँ से दो मील की दूरी पर है और वहाँ केवल दस-पाँच दुकानें हैं। बिना किसी वाद-विवाद के मैंने कुछ पैसे निकालकर उसे दे दिया और कपड़े उतारकर धोती, तौलिया निकालकर घड़े के पानी से काक स्नान करके बाँस और मूँज की बनी हुई खटिया पर हताश अवस्था में चारोखाने चित लेट गया। पहले ही दिन से रियासत वालों का यह व्यवहार कि एक दिन के लिए भी मेरे भोजन का प्रबन्ध नही करना चाहते, यह सोच कर मैं विस्मित था। दीक्षितजी ब्राह्मण थे। मैं शंका से उनके यहाँ खा सकता था। इस जङ्गल के भीतर इस खण्डहर के अलावा कोई मकान उन्हें मेरे काम योग्य नहीं दिखाई दिया। एक खटिया के अतिरिक्त फर्नीचर के रूप में और कोई चीज़ रखने योग्य उन्होंने मुझे नहीं समझा, पर मैंने निश्चय कर लिया कि निर्विवाद रूप से सारी स्थिति को स्वीकार कर लूँगा और किसी बात पर भी आपत्ति के रूप में एक शब्द भी मुँह से कभी नहीं निकालूँगा।

बहुत देर बाद नौकर आया और पाव-भर पूड़ी और घुइयाँ, भिण्डी, कुम्हड़ा, आदि की पञ्चमेल और बरफ़ से भी ठण्डी तरकारी लाकर मेरे सामने रख गया। घड़े में पानी भर कर वह चला गया मैं किसी तरह पेट-पूजा कर बिस्तर बिछाकर लेट गया। रात से थका हुआ था, इसलिए तत्काल नींद आ गई। काफ़ी देर तक सोता रहा!

शाम को वही खद्दरधारी सज्जन, जिन्हें प्राइवेट सेक्रेटरी साहब ने मेरे साथ कर दिया था और जिनका नाम महादेव प्रसाद था, नौकर को साथ लेकर मेरे पास आये और बोले--"कहिए आपको किसी बात का कष्ट तो नहीं है? खाना तो लक्खन बाजार से ले ही आया होगा, चारपाई

आपको मिल ही गई है। घड़े में पानी भर दिया होगा। यदि और भी किसी बात का कष्ट है तो कहिए, सब ठीक कर दिया जायगा।"

मन-ही-मन हँसते हुए मैंने कहा—"जी नहीं, मैं बड़े मज़े में हूँ। सभी बातों का ठीक प्रबन्ध हो गया है, इसके लिए आपको धन्यवाद देता हूँ।"

महादेव बाबू ने कहा—"कल आपकी सेवा में इक्का तैयार रहेगा। इक्केवाला ठीक समय पर आपको स्कूल पहुँचा देगा। लक्खन रात को यहीं रहेगा और सुबह-शाम सब काम कर दिया करेगा।"

पर लक्खन ने रात को मेरे साथ रहने पर आपत्ति प्रकट की और कहा कि सुबह-शाम काम करके वह रात को चला जाया करेगा। महादेव बाबू ने कितना कहा, पर वह किसी तरह न माना। बहुत डराया-धमकाया, पर फिर भी वह राज़ी न हुआ। कारण पूछने पर पहले तो उसने कुछ न बताया, पर बहुत दबाव डाले जाने पर उसने कहा—"बाबूजी, इस मकान में भूत रहता है।"

महादेव बाबू ने हँसकर कहा—"मूरख कहीं का! भूतों पर विश्वास करता है! मुझसे और भी बहुत-से आदमियों ने कहा है कि इस कोठी में भूत रहता है, न मालूम इन अंधविश्वासियों की बुद्धि क्या हो गई है। अरे पागल! भूत-वूत कुछ नहीं है, तुझे यहाँ रहना ही होगा।"

पर लक्खन ने एक न सुनी। बोला—"हुज़ूर, चाहे और जो कुछ कहें, करने को तैयार हूँ, पर यहाँ रात को रहने को न कहें।"

अन्त में तङ्ग आकर महादेव बाबू ने मुझसे कहा—"अच्छा, कोई बात नहीं। आज आप अकेले ही रहें, कल किसी आदमी के रहने का का प्रबन्ध कर दिया जायगा। इस समय मैं जाता हूँ। नमस्कार!"

उनके चले जाने पर लक्खन ने कहा—"बाजार से जल्दी खाना मँगा लीजिए, फिर मैं चला जाऊँगा।"

उसके बाज़ार चले जाने पर मैं स्तब्ध बैठा रहा। भूत के भय की कोई चिन्ता मेरे मन में उत्पन्न नहीं हुई, पर मैं अपने को एक अनोखी

अस्वाभाविक परिस्थिति में पड़ा हुआ अनुभव कर रहा था। एक सिगरेट जलाई और अपने चारों ओर की विभ्रान्त विजनता पर विचार करने की चेष्टा करने लगा। अँधेरा होने लगा था। सामने ताड़ के पेड़ में एक पत्ती ने अकस्मात् ऐसे ज़ोरों से पंख फड़फड़ाये कि मैं सँभलकर बैठ गया। कमरे के भीतर एक चमगादड़ ने चक्कर काटना शुरू कर दिया। मैंने उसे भगाने की चेष्टा की, पर वह किसी तरह कमरे से बाहर जाना नहीं चाहता था। कुछ भयाभास-सा अनुभव करने लगा, इसलिए लालटेन जला ली।

लक्खन आया और खाना रखकर चला गया। लक्खन के चले जाने पर अकारण मन में कुछ घबराहट-सी पैदा होने लगी। खिन्न मन में भय बरबस अपना अधिकार जमा लेता है। तथापि मैं सहज ही में भयभीत होनेवाला आदमी न था! पूड़ियाँ चबाते हुए अपने अकारण भ्रम पर खूब जोरों से ठठा कर हँसा। रात की एकान्तिकता में उस निर्जन कोठी में 'होः होः' का शब्द सारी कोठी के भीतर ऐसे विकट रूप में गूँज उठा कि मेरा हृदय धड़कने लगा। मेरी हँसी प्रतिध्वनि के रूप में मानो मेरा ही प्रतिहास कर रही थी। ऐसा जान पड़ने लगा कि वह मेरे हास्य की प्रतिध्वनि नहीं, बल्कि किसी अज्ञात अदृश्य व्यक्ति का विकट अट्टहास है।

खा-पीकर, हाथ-मुँह धोकर एक सिगरेट जलाई और ऊपर को मुँह करके खटिया पर लेट गया। सिगरेट पीने पर चित्त कुछ स्वस्थ हुआ और स्कूल में क्या करना होगा और मास्टरों से किस प्रकार की बातें करनी होंगी, इस सम्बन्ध में सोचने लगा। सोचते-सोचते आँखें झपने लगीं। दिन में सोने पर भी नींद ज़ोर कर रही थी। सिगरेट फेंक कर बत्ती बुझाकर मैंने आँखें बन्द कर लीं। कुछ देर तक सोया हूँगा, अचानक एक बड़े ज़ोर की आवाज़ (जो मुझे ठीक तोप की सी मालूम हुई) सुनकर हड़बड़ाकर उठ बैठा। नींद में जो आवाज़ तोप के समान सुनाई दी, नींद उचटने पर अज्ञात स्मृति ने सुझाया कि वह टीन पर

किसी भारी चीज़ के गिरने या टीन के ऊपर से नीचे गिरने का शब्द था। अनुमान लगाया कि कुत्ता या बिल्ली, किसी जानवर ने आकर किसी कमरे में पड़े हुए कनस्टर को गिराया होगा। अपने अकारण भय पर फिर एक बार मन-ही-मन हँसा। ज़ोर से हँसने का साहस न हुआ। बाहर झिल्ली की अविरल झनकार और भीतर सन्नाटे के कारण भाँय-भाँय के अतिरिक्त और कोई शब्द नहीं सुनाई देता था। एक चमगादड़ ने आकर मेरे सर के ऊपर मँड़राना शुरू कर दिया। मैंने अपना मुँह कम्बल से ढाँप लिया। आँखें फिर झँपने लगीं और मैं सो गया। मुश्किल से बीस मिनट के लिए नींद आई होगी कि सहसा किसी ने जैसे मुझे जगाया, ऐसा मालूम पड़ा। ऐसा प्रतीत हुआ जैसा मेरे मन के कानों ने किसी का श्रवणातीत आह्वान सुना हो और मैंने हड़बड़ाकर कम्बल मुँह पर से हटा लिया। उस विशाल कक्ष के चारों ओर प्रगाढ़ अन्धकार दृढ़बद्ध होकर घनीभूत हो रहा था और कहीं कुछ दिखाई देने की सम्भावना नहीं थी। तथापि मुझे भास हुआ कि उस घनघोर तमिसपुञ्ज से भी अधिक अन्धकारमयी एक विकराल छाया धीरे-धीरे मेरी ओर आगे बढ़ रही है। मैंने देखा कि अपने रूखे-सूखे बालों को बिखराकर एक कङ्कालावशेष, क्लिष्ट, क्लान्त नारी-मूर्ति की भयावनी आकृति मेरे सामने आकर खड़ी हो गई। पहले ही कह चुका हूँ कि उस घटाटोप अन्धकार में चर्मचक्षुओं द्वारा कुछ देखना सम्भव नहीं था। पर मेरे मन की आँखें जैसे उस विभीषिकामयी छाया को स्पष्ट देख रही थीं। मैं यद्यपि ऐसी परिस्थिति में था जिसमें भ्रम हो सकता है, तथापि उस समय मैं निश्चित रूप से उस वीभत्स छाया का कराल रूप देख रहा था, जो धोखा नहीं कहा जा सकता था। उस विभीषिकामयी छाया के मुख पर मैंने रोष-भरी घृणा, भयङ्कर प्रतिहिंसा, पर साथ ही निदारुण विषादपूर्ण दीनता के भाव की झलक पाई।

आश्चर्य की बात यह है कि ज्योंही मेरे मनश्चक्षुओं के आगे वह भयावना रूप प्रकट हुआ, त्योंही बाहर पेड़ों पर बन्दरों के दो-चार बच्चे

एक साथ "चिहाँ-चिहाँ" कर के ठीक मनुष्य के बच्चों की तरह रोने लगे और दो-तीन कुत्ते भी ठीक मनुष्य के शब्द में "हो-ओं-ो-ो-" कर के मर्मभेदी आर्तनाद कर उठे। मेरी सारी आत्मा एक निराले भय की व्याकुलता से थरथरा उठी! कुत्तों के मुँह में मानव-रोदन का अविकल प्रति शब्द मैंने अपने जीवन में उस दिन प्रथम बार सुना। कुत्तों के मुँह से निकलनेवाले नाना प्रकार के विचित्र शब्दों से मैं परिचित था, पर ठीक मनुष्यों के से हाहाकार का दीर्घ क्रन्दन कभी नहीं सुना था।

उस छायारूपी करालिका नारी-मूर्ति को अपने सामने अनुभव करते ही मैंने तत्काल अपना मुँह ढाँप लिया। पर मुँह ढाँपना बेकार था, क्योंकि मन की आँखों को किसी भी कम्बल से नहीं ढँका जा सकता था। बाहर कुत्तों का रोना जारी था। चमगादड़ भी फड़फड़ाता हुआ कमरे के इस छोर से उड़कर उस छोर तक जाता था और फिर उस छोर से उड़कर इस छोर तक आता था। मुझे ऐसा जान पड़ने लगा कि मैं ऐसे भयावने लोक में आ गया हूँ, जहाँ की भूमि श्मशान-भूमि है, जहाँ का आकाश मृत्यु की गहन तामसी कुंझटिका से घनाच्छन्न है और जहाँ के नाना रूपधारी जीव प्रेतयोनि से सम्बन्धित हैं।

मैं कम्बल के भीतर जीवन और मृत्यु के बीच की शब्दातीत तथा अबोधगम्य दशा में, हड़कम्प की हालत में थरथरा रहा था। सहसा कोठी से कुछ दूर किसी स्थान से कुछ कुत्तों को स्वाभाविक स्वर में "हूंःहूः" करके भूँकने का शब्द सुनाई दिया और इस शब्द के सुनते ही मुझे ऐसा बोध हुआ कि वह नारी-कङ्काल की छाया-मूर्ति मेरे कमरे से बग़ल वाले कमरे की ओर चली गई और बग़लवाले कमरे से दाहिनी ओर के कमरे में गई और वहाँ से बाहरवाले कमरे में जाकर शून्य में अदृश्य हो गई। कम्बल के भीतर हाथ-पाँव समेटकर वज्रबद्ध अवस्था में आँख मूँदे पड़े रहने पर भी उस छाया-मूर्ति की गति-विधि का हाल इतने स्पष्टरूप से मुझे कैसे मालूम हुआ, इस सम्बन्ध में मैं निश्चित रूप

से कुछ नहीं कह सकता। सम्भव है कि मेरे सूक्ष्म चेतन ने इन सब बातों को ग़ौर से लक्ष्य किया हो।

कुत्तों का जो समूह स्वाभाविक स्वर में भूँक रहा था, उसके शब्द से मानव-स्वर में रोनेवाले कुत्तों का आर्तनाद बन्द हो गया। पर थोड़ी देर में प्रथमोक्त दल का स्वाभाविक चीत्कार थमते ही फिर द्वितीय दल का मानवी क्रन्दन शुरू हो गया और वह भयावनी छाया जिस रास्ते से अदृश्य हुई थी, उसी रास्ते से फिर आविर्भूत हो गई। मुझे स्पष्ट ऐसा प्रतीत होने लगा कि मेरे चारों ओर के वातावरण में दो शक्तियों का सङ्घर्ष चल रहा है—एक मृत्यु का और दूसरा जीवन का। स्वाभाविक स्वर में भूँकनेवाले कुत्तों के शब्द में मुझे ढाढ़स मिलता था और उनके भूँकने पर वह प्रेतिक छाया अदृश्य हो जाती थी, और रोने वाले कुत्तों के शब्द के साथ वह घृणामयी छाया फिर उत्कट प्रतिहिंसा और साथ ही घोर दीनता का भाव लेकर प्रकट हो जाती। रात भर इस द्वन्द्वात्मक सङ्घर्ष की खींचातानी मेरे प्राणों में चलती रही। सुबह को जब दिशाएँ खुलीं और पौ फटने लगी, तो मैं पाँव फैलाकर निश्चिंत होकर लेट गया और कुछ ही समय बाद गाढ़ निद्रा में मग्न हो गया।

लक्खन ने आकर जब मुझे जगाया तो अङ्ग-अङ्ग में ऐसी शिथिलता का अनुभव कर रहा था कि मालूम होता था, जैसे किसी ने रात भर घूँसों से मुझे मारा हो। उठने की शक्ति नहीं रह गई थी, तथापि स्कूल की चिन्ता के कारण किसी तरह शक्ति बटोर कर उठा। लक्खन से मैं एक शब्द भी न बोला।

दाढ़ी बनाने के समय शीशे में अपना मुँह देखा, एकदम सूखा हुआ था। बहुत दिनों तक लगातार ज्वर आने पर जो हाल चेहरे का हो जाता है, मेरे मुँह की वही दशा एक रात में हो गई थी।

खा-पीकर इक्के पर सवार होकर स्कूल की ओर चला। इक्का वही था, जिस पर पहले दिन सवार हो चुका था। दिन के इस उज्ज्वल प्रकाश में रात का वह भयङ्कर अनुभव एक दुःस्वप्न की तरह लगता था। तथापि

उत्कट घृणा तथा जघन्य प्रतिहिंसा की जिस मूर्तिमती छाया का रोमाञ्च-कर रूप मैंने देखा था, वह अभी तक मेरे अन्तर्पट से विलीन नहीं हुई थी।

स्कूल पहुँचा। जो सज्जन अस्थायी रूप से हेडमास्टरी के पद को सम्हाले हुए थे, उनका नाम प्राणनाथ चतुर्वेदी था। उनकी आयु पचास वर्ष से कम न होगी। मालूम हुआ कि बहुत दिनों से सेकेण्ड मास्टर के पद पर नियुक्त थे। भूतपूर्व हेडमास्टर के चले जाने पर उन्हें अस्थायी रूप से उनके स्थान पर नियुक्त कर दिया गया था। अब मेरे आने पर वह फिर सेकेण्ड मास्टर होकर रहेंगे। चतुर्वेदी जी ने मुझे चार्ज सौंपकर मेरे जानने योग्य सब बातें मुझे बताईं।

नये हेडमास्टर के आगमन से स्कूल के छात्रों तथा मास्टरों में चञ्चलता तथा कौतूहल का जाग पड़ना स्वाभाविक था। छात्रगण मुझे देखकर आपस में कानाफूसी करने लगे थे। अवश्य ही मेरे व्यक्तित्व के सम्बन्ध में आलोचना-प्रत्यालोचना कर रहे होंगे। पर मैं अपनी नई स्थिति के प्रति एकदम उदासीन-सा हो गया था। ऐसा मालूम होता था कि मैं किसी प्रेतलोक का निवासी आज मानव-लोक में आया हूँ, जहाँ का प्रत्येक निवासी मेरे लिए विजातीय है।

तीन बजे के क़रीब स्कूल में छुट्टी होने पर चतुर्वेदीजी मुझसे फिर मिले और अत्यन्त विनय के साथ उन्होंने मुझसे प्रश्न किया कि मैं कहाँ ठहरा हूँ। यह सुनते ही कि रामबाग़वाली कोठी में मेरे रहने का प्रबन्ध किया गया है, चतुर्वेदीजी इस क़दर चौंक पड़े कि यदि मैं कल रात-वाली घटना से परिचित न होता तो मैं अवश्य ही चकित रह जाता। उन्होंने कहा—"तब क्या आप वहाँ एक रात रह चुके हैं ?"

"जी हाँ।"

"तो क्या वहाँ किसी प्रकार का कोई विशेष अनुभव आपको नहीं हुआ ?"

मैंने असली बात छिपाते हुए कहा—"कोठी एक तो ऐसे एकान्त स्थान पर है, जहाँ आस-पास में कहीं एक भी मानव-प्राणी के अस्तित्व

का आभास मिलना कठिन हो जाता है, जिस पर मालूम होता है कि वर्षों से परित्यक्त अवस्था में पड़ी है। इन कारणों से वहाँ भय मालूम होना स्वाभाविक है।"

चतुर्वेदीजी ने अत्यन्त चिन्तित भाव से कहा—"देखिए साहब, मैं आपसे प्रार्थना करूँगा कि आप उस कोठी में अब एक दिन के लिए भी न रहें। केवल निर्जनता वहाँ के भय का कारण नहीं है, वहाँ भय उत्कट सत्य के रूप में वर्तमान है। वास्तव में वह स्थान प्रेतात्माओं से घिरा है। बारह वर्ष पहले तक वहाँ किसी प्रकार का भय नहीं था और लोग शौक़ से वहाँ रहा करते थे। पर बारह वर्ष पूर्व जब से एक घटना वहाँ हो गई, तब से वहाँ प्रेतात्माओं का अड्डा बन गया। तब से जो-जो व्यक्ति कुछ समय के लिए वहाँ रहे हैं उनमें से केवल एक व्यक्ति को छोड़कर कोई भी जीवित न रहा। जो व्यक्ति वहाँ तीन-चार दिन रहने पर भी जीवित रहा उसने अपना जो कुछ अनुभव मुझे सुनाया वह वास्तव में लोमहर्षक था।"

स्कूल ख़ाली हो गया था। केवल हम दो व्यक्ति वहाँ रह गये थे। आफ़िस के कमरे में हम दोनों बैठे हुए थे। चतुर्वेदीजी की बातों से मेरा कौतूहल बहुत बढ़ गया था। वह अपने मित्र का अनुभव मुझे सुनाने लगे। मेरे भय और आश्चर्य का ठिकाना न रहा, जब मुझे मालूम हुआ कि उनके और मेरे अनुभव में नाम को भी अन्तर नहीं है। अभी तक मैं अपने अनुभव को अपने मस्तिष्क का विकार और भ्रम समझने की चेष्टा करके अपने मन को समझा रहा था। पर अब मेरे लिए सन्देह की कोई गुञ्जाइश न रही और मैं विगत रात की छाया-मूर्ति की वास्तविकता की अनुभूति से काँप उठा। कुछ देर तक स्तब्ध रहकर मैंने कहा—"आप जिस विशेष घटना की बात करते थे, उसका पूरा हाल क्या आप जानते हैं?

चतुर्वेदीजी अपनी कुर्सी मेरी ओर सरकाकर ज़रा डट-कर बैठ गये और बोले—"मैं प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों रूपों से उस घटना के

इतिहास से परिचित हूँ। प्रायः पन्द्रह वर्ष पहले ठाकुर बलवीरसिंह नामक एक सज्जन यहाँ मैनेजर के पद पर नियुक्त होकर आये थे। उनके साथ उनकी माँ, पत्नी और एक विधवा बहन थी। उनकी पत्नी लक्ष्मी के साथ उनकी माँ की नहीं बनती थी। दोनों में रात-दिन द्वन्द्व मचा रहता था। मुझे विश्वसनीय सूत्र से मालूम हुआ है कि लक्ष्मी जब पहलेपहल ससुराल आई थी तो वह बड़ी सुशील थी। सास के साथ बड़ी नम्रता और आदर के साथ बातें करती थी। पर सास का व्यवहार बहू के प्रति प्रारम्भ से ही विद्वेषात्मक हो उठा था। आर्य-संस्कृति से पूर्ण इस पुण्य भारत-भूमि की मातृजाति में पति और पुत्र के प्रति जो महान् त्याग का भाव पाया जाता है वह स्वयंसिद्ध है, पर अभागिनी पुत्र-वधुओं के प्रति हमारी माताओं के अकारण आक्रोश का रहस्य समझना कठिन है। पुत्रों के विवाह के लिये वे कितनी उत्कण्ठित और उत्सुक रहती हैं, यह सभी जानते हैं। पर विवाह होने पर पुत्र-वधू के आगमन के क्षण से ही वह पारिवारिक जीवन को कैसा विषमय बना देती हैं, यह बात भी किसी से छिपी नहीं है। इस नियम में यत्र-तत्र अपवाद पाये जा सकते हैं, पर निश्चित है कि ठाकुर बलवीरसिंह की माता अपवाद-स्वरूप नहीं, बल्कि इस नियम के ज्वलन्त दृष्टान्त-स्वरूप थीं।

"लक्ष्मी की सास खाना स्वयं बनाती थीं। उन दिनों ठाकुर साहब डिस्ट्रिक्ट कोर्ट में वकालत करते थे। जहाँ वह वकालत करते थे वहाँ प्रतियोगिता बड़ी ज़बर्दस्त थी, और उनकी प्रैक्टिस कुछ विशेष चलती न थी। ख़ैर। लक्ष्मी जब खाना खाने बैठती तो सास पहले दो पतले-पतले फ़ुलके उसकी थाली में परोसकर रखती थीं। दो फुलकों के समाप्त होने पर तीसरे के लिये पूछती—और एक फ़ुलका दूँ? लक्ष्मी उनके इस निराले ढङ्ग से आश्चर्यचकित होकर किसी तरह सङ्कोच त्यागकर सिर हिलाकर अपनी इच्छा प्रकट करती। चौथे फुलके के लिए भी वह किसी तरह सङ्कोच का भाव दबा जाती थी, पर पाँचवें के लिए

उसे किसी प्रकार 'हाँ' कहने का साहस नहीं होता था और उसे वह भाव जताना पड़ता कि उसका पेट भर गया, यद्यपि पेट में चूहे कूदते रहते। चावल के सम्बन्ध में भी यही किस्सा दुहराया जाता था।

"प्रारम्भ में लक्ष्मी ने समझा कि सास अपने स्वभाव के भोलेपन के कारण ऐसा करती हैं, पर 'निज हित अनहित पशु पहिचाना।' प्रत्येक बात में सास के नीचतापूर्ण विद्वेष का व्यवहार देखकर धीरे-धीरे वह समझ गई कि उसकी वास्तविक स्थिति क्या है, यद्यपि उसके प्रति सास के इस अनोखे आचरण का कारण उसकी समझ में न आया। धीरे-धीरे लक्ष्मी के नम्र, सुशील तथा सङ्कोचशील स्वभाव में आश्चर्य-जनक परिवर्तन दिखाई देने लगा। उसके पति का व्यवहार उसके प्रति कुछ बुरा नहीं था, पर अपनी माता के विरुद्ध वह एक शब्द भी नहीं सुनना चाहते थे। लक्ष्मी के अज्ञात संस्कार ने उसे आत्म-रक्षा के लिए स्वयं तैयारियाँ करने के लिए प्रेरित किया। उसने प्रकट रूप से पग-पग पर सास के अन्याय का विरोध करना शुरू कर दिया। वह ज़बर्दस्ती माँग-माँगकर खाया करती, जब तक कि उसका पेट पूरा भर न जाता। उसकी सास पड़ोस में ढिंढोरा पीटने लगी कि उनकी बहू क्या है राक्षसी है; अकेले इतना अन्न स्वाहा कर जाती है जितने में दस आदमियों का पेट भर जाय और उनका बेटा अधपेट खाकर ही कचहरी जाता है। लक्ष्मी के मन में इस प्रकार की बातों से प्रतिक्रिया बढ़ती ही गई और वह कटु शब्दों में सास की प्रत्येक बात का विरोध करती चली गई। धीरे-धीरे सास-बहू का पारस्परिक वैमनस्य इस हद तक बढ़ गया कि बीच-बीच में हाथा-पाई की भी नौबत आ जाती और कभी-कभी तो दोनों एक दूसरी के झोंटे पकड़-पकड़कर जूझने लगतीं।

"उन दिनों उसकी ननद विधवा नहीं हुई थी, और अपनी ससुराल में ही रहती थी। घर में केवल तीन प्राणी थे—लक्ष्मी, उसके पति और उसकी सास। ठाकुर साहब के कचहरी चले जाने पर नित्य सास-बहू के बीच द्वन्द्व मचा रहता और पास-पड़ोस के लोग बाहर से तमाशा

इतिहास से परिचित हूँ। प्रायः पन्द्रह वर्ष पहले ठाकुर बलवीरसिंह नामक एक सज्जन यहाँ मैनेजर के पद पर नियुक्त होकर आये थे। उनके साथ उनकी माँ, पत्नी और एक विधवा बहन थी। उनकी पत्नी लक्ष्मी के साथ उनकी माँ की नहीं बनती थी। दोनो में रात-दिन द्वन्द्व मचा रहता था। मुझे विश्वसनीय सूत्र से मालूम हुआ है कि लक्ष्मी जब पहलेपहल ससुराल आई थी तो वह बड़ी सुशील थी। सास के साथ बड़ी नम्रता और आदर के साथ बातें करती थी। पर सास का व्यवहार बहू के प्रति प्रारम्भ से ही विद्वेषात्मक हो उठा था। आर्य-संस्कृति से पूर्ण इस पुण्य भारत-भूमि की मातृजाति में पति और पुत्र के प्रति जो महान् त्याग का भाव पाया जाता है वह स्वयंसिद्ध है, पर अभागिनी पुत्र-वधुओं के प्रति हमारी माताओं के अकारण आक्रोश का रहस्य समझना कठिन है। पुत्रों के विवाह के लिये वे कितनी उत्कण्ठित और उत्सुक रहती हैं, यह सभी जानते हैं। पर विवाह होने पर पुत्र-वधू के आगमन के क्षण से ही वह पारिवारिक जीवन को कैसा विषमय बना देती हैं, यह बात भी किसी से छिपी नहीं है। इस नियम में यत्र-तत्र अपवाद पाये जा सकते हैं, पर निश्चित है कि ठाकुर बलवीरसिंह की माता अपवाद-स्वरूप नहीं, बल्कि इस नियम के ज्वलन्त दृष्टान्त-स्वरूप थीं।

"लक्ष्मी की सास खाना स्वयं बनाती थीं। उन दिनों ठाकुर साहब डिस्ट्रिक्ट कोर्ट में वकालत करते थे। जहाँ वह वकालत करते थे वहाँ प्रतियोगिता बड़ी ज़बर्दस्त थी, और उनकी प्रैक्टिस कुछ विशेष चलती न थी। ख़ैर। लक्ष्मी जब खाना खाने बैठती तो सास पहले दो पतले-पतले फुलके उसकी थाली में परोसकर रखती थीं। दो फुलकों के समाप्त होने पर तीसरे के लिये पूछती—और एक फुलका दूँ? लक्ष्मी उनके इस निराले ढङ्ग से आश्चर्यचकित होकर किसी तरह सङ्कोच त्यागकर सिर हिलाकर अपनी इच्छा प्रकट करती। चौथे फुलके के लिए भी वह किसी तरह सङ्कोच का भाव दबा जाती थी, पर पाँचवें के लिए

उसे किसी प्रकार 'हाँ' कहने का साहस नहीं होता था और उसे यह भाव जताना पड़ता कि उसका पेट भर गया, यद्यपि पेट में चूहे कूदते रहते। चावल के सम्बन्ध में भी यही क़िस्सा दुहराया जाता था।

"प्रारम्भ में लक्ष्मी ने समझा कि सास अपने स्वभाव के भोलेपन के कारण ऐसा करती हैं, पर 'निज हित अनहित पशु पहिचाना।' प्रत्येक बात में सास के नीचतापूर्ण विद्वेष का व्यवहार देखकर धीरे-धीरे वह समझ गई कि उसकी वास्तविक स्थिति क्या है, यद्यपि उसके प्रति सास के इस अनोखे आचरण का कारण उसकी समझ में न आया। धीरे-धीरे लक्ष्मी के नम्र, सुशील तथा सङ्कोचशील स्वभाव में आश्चर्य-जनक परिवर्तन दिखाई देने लगा। उसके पति का व्यवहार उसके प्रति कुछ बुरा नहीं था, पर अपनी माता के विरुद्ध वह एक शब्द भी नहीं सुनना चाहते थे। लक्ष्मी के अज्ञात संस्कार ने उसे आत्म-रक्षा के लिए स्वयं तैयारियाँ करने के लिए प्रेरित किया। उसने प्रकट रूप से पग-पग पर सास के अन्याय का विरोध करना शुरू कर दिया। वह ज़बर्दस्ती माँग-माँगकर खाया करती, जब तक कि उसका पेट पूरा भर न जाता। उसकी सास पड़ोस में ढिंढोरा पीटने लगी कि उनकी बहू क्या है राक्षसी है; अकेले इतना अन्न स्वाहा कर जाती है जितने में दस आदमियों का पेट भर जाय और उनका बेटा अधपेट खाकर ही कचहरी जाता है। लक्ष्मी के मन में इस प्रकार की बातों से प्रतिक्रिया बढ़ती ही गई और वह कटु शब्दों में सास की प्रत्येक बात का विरोध करती चली गई। धीरे-धीरे सास-बहू का पारस्परिक वैमनस्य इस हद तक बढ़ गया कि बीच-बीच में हाथा-पाई की भी नौबत आ जाती और कभी-कभी तो दोनों एक दूसरी के झोंटे पकड़-पकड़कर जूझने लगतीं।

"उन दिनों उसकी ननद विधवा नहीं हुई थी, और अपनी ससुराल में ही रहती थी। घर में केवल तीन प्राणी थे—लक्ष्मी, उसके पति और उसकी सास। ठाकुर साहब के कचहरी चले जाने पर नित्य सास-बहू के बीच द्वन्द्व मचा रहता और पास-पड़ोस के लोग बाहर से तमाशा

देखते रहते। ठाकुर साहब के घर वापस आने पर उनकी माँ, बहू की शिकायत इस ढङ्ग से करती थीं कि ठाकुर साहब के मन में आतङ्क छा जाता और वह अपनी पत्नी को पीटने पर उतारू हो जाते। अपनी माँ के स्वभाव से वह भली भाँति परिचित थे, तथापि स्वभावतः उनके मन में माता के प्रति अत्यन्त स्नेह और आदर का भाव वर्तमान था। वह चाहते थे कि माँ का अत्याचार उनकी पत्नी पर चाहे किसी हद तक क्यों न हो, उसे नम्रतापूर्वक सब चुपचाप सहन करते जाना चाहिए।"

"लक्ष्मी के मायके वाले बहुत ग़रीब थे। फिर भी वे लोग बीच-बीच में उसे ले जाने के लिए जब किसी को भेजते थे तो लक्ष्मी जाने से साफ़ इनकार कर देती और मायके से आये हुए व्यक्ति को एक दिन के लिए उस घर में ठहरने न देती। उसके मन में इस बात की भारी आशङ्का थी कि वह एक बार के लिए भी मायके गई नहीं कि उसकी सास उसके विरुद्ध झूठ-मूठ का कलङ्क गढ़कर उसे त्याग देने के लिए उसके पति को बाध्य कर देगी।"

"इस प्रकार छः वर्ष बीत गये। सास के साथ दिन-रात लड़ाई-झगड़ा, गाली-गलौज, थुक्कमथुक्का करते-करते वह इस सम्बन्ध में अभ्यस्त हो गई और वह उसका दैनिक कार्यक्रम-सा हो गया। इसमें कोई अस्वाभाविकता परिवार के तीन प्राणियों में से किसी को भी नहीं मालूम होती थी। इस बीच उसकी ननद कौशल्या विधवा हो गई और छः महीने बाद मायके चली आई। कौशल्या के आने पर माँ बेटी का ज़ोर बढ़ गया। लक्ष्मी ने देखा कि उसकी ननद उसकी सास से कूटबुद्धि में कुछ कम नहीं है और शारीरिक बल और मानसिक उग्रता में परिवार के सब व्यक्तियों से बढ़कर है। फिर भी वह हारमान न हुई! कभी-कभी वाद-विवाद बढ़ जाने पर जब हाथा पाई की नौबत आ जाती तो सास और ननद मिलकर दोनों ओर से उसे घेर लेती थीं। ननद इस तरफ़ से उसके झोंटे पकड़कर खींचती और सास उस तरफ़ से। लक्ष्मी छटपटाती, कराहती, गालियाँ देती, शाप उगलती, पर पार नहीं पाती

थी। कभी-कभी ऐसा होता कि कौशल्या अकेली लक्ष्मी के दोनों हाथों को पकड़े रहती और सास पीछे से एक चप्पल लेकर पटापट उसके सिर पर पटकती हुई दाँत पीसकर कहती—'ले! ले! ले! ले!' वह चिल्लाती, चीख़ मारती, दुष्ट बच्चों की तरह वाही-तबाही बकती, पर सब व्यर्थ। अन्त में सास-ननद की ही जीत होती थी। फिर भी लक्ष्मी हार मानने को तैयार न थी। उसके सिर पर भूत की तरह एक ज़िद-सी सवार हो गई थी। वह सोचती कि जब भाग्य ने उसे ऐसे अस्वाभाविक परिवार में ऐसी क्रूर और निर्लज्ज स्वभाव सास, और ननद के बीच में लाकर खड़ा कर दिया है तो वह भी तब तक अस्वाभाविक ही बनी रहेगी जब तक पूरा, मनचाहा बदला न लेगी। कभी दही की मटकी उठाकर दोनों में से एक के सिर पर मार देती थी, कभी दूध की कढ़ाई सास के सर पर उँड़ेल देती थी। दूध और दही के प्रति उसकी इस निर्ममता का एक कारण यह भी था कि इन दोनों गव्य पदार्थों में से एक भी उसके पति को नहीं मिलता था—शायद कभी क़सम खाने को थोड़ा-बहुत मिल जाता हो, पर वह नहीं के बराबर था। और उसके अपने सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है। दूध, दही तो दरकिनार, रोटी-चावल उसे कभी एक दिन के लिए भी भरपेट प्राप्त न होता था।

"ठाकुर साहब ज़्यादातर बाहर ही रहते और सुबह के निकले आधी रात को वापस आकर चुपचाप अपने कमरे में जाकर लेट जाते। बियारी भी अक्सर बाहर ही करते थे। घर से विमुख होने पर भी वह बड़े मिलनसार, हँसमुख और सांसारिक तथा सामाजिक विषयों में बड़े निपुण थे। किसी तरह तिकड़म भिड़ाकर वह इस इस्टेट के मैनेजर बनकर सपरिवार यहाँ चले आये। भूतपूर्व मैनेजर की मृत्यु हो गई थी। पहले ही कह चुका हूँ कि यहाँ आकर वह उसी कोठी में ठहरे, जहाँ आप ठहरे हैं।

"यहाँ आने पर लक्ष्मी ने एक लड़के को जन्म दिया। इसी अवसर पर हम लोग निमन्त्रण के उपलक्ष में प्रथम बार मैनेजर साहब से

जाकर मिले। मेरी पत्नी ने भी इस अवसर पर लक्ष्मी और उसकी सास और नन का व्यक्तिगत परिचय प्राप्त किया। तभी से लक्ष्मी के साथ मेरी पत्नी की घनिष्ठता हो गई। खैर! लड़का पैदा होते ही लक्ष्मी को ऐसा जान पड़ा जैसे उसका नारी-जन्म सार्थक हो गया। परिस्थितियों की अस्वाभाविकता के कारण उसके स्वभाव में जो विकृति आ गई थी उसके कारण वह स्वयं ऐसा अनुभव करने लगी थी कि वह अपना नारीत्व खो चुकी है। पर अब मातृत्व की अपूर्व अनुभूति के साथ ही उसका नारीत्व फिर नये सिरे से जग पड़ा। उसे अपने इतने वर्षों के वैवाहिक जीवन के कटु अनुभव एक दुःस्वप्न की तरह असत्य से प्रतीत होने लगे और उसे अपने बचपन के वे दिन याद आये, जब वह भविष्य के मङ्गलमय वैवाहिक जीवन की अत्यन्त अस्पष्ट और साथ ही अत्यन्त मधुर कल्पना का रङ्गीन जाल मन-ही-मन बुनते हुए अपनी सहेलियों के साथ गुड़ियों के खेल खेलती थी।

"ठाकुर साहब को भी एक पुत्र पाकर कम प्रसन्नता नहीं हुई, और सबसे अधिक प्रसन्नता उन्हें इस बात पर हुई कि लक्ष्मी के स्वभाव में वही मधुरता फिर से आने लगी थी, जो उन्होंने वैवाहिक जीवन की प्रारम्भिक अवस्था में उसमें पाई थी। अब ठाकुर साहब भी पुत्रस्नेह से प्रेरित होकर लक्ष्मी के प्रति यथेष्ट स्नेह का भाव दिखाने लगे थे, जो उनकी माता और बहन के लिए एकदम असहनीय था। अब स्पष्ट और प्रकट रूप से बहू का अनिष्ट करने का कोई उपाय नहीं दिखाई देता था, इसलिए भीतर-ही-भीतर दोनों का आक्रोश और भी अधिक बढ़ता जाता था। प्रकट रूप से कुछ न कर सकने पर भी अपने कूटचक्रों से दोनों बाज़ न आती थीं, पर लक्ष्मी अब आश्चर्य-जनक रूप से इन कुचक्रों के प्रति सुविनम्र अवज्ञा का भाव प्रदर्शित करने लगी थी।

"विकृत-स्वभाव स्त्री-पुरुषों में प्रतिहिंसा का भाव किस सीमा तक घोर क्रूर तथा उग्र रूप धारण कर सकता है, इस बात की कल्पना प्रत्येक व्यक्ति नहीं कर सकता। बहू के प्रति विद्वेषभाव के कारण पुत्र

और पोते की अनिष्टकामना किसी स्त्री के मन में कभी उत्पन्न हो सकती है, इस बात पर विश्वास करना बहुत कठिन है। तथापि किसी कवि की यह बात माननी ही पड़ती है कि सत्य कभी-कभी कोरी कल्पना की अपेक्षा भी अधिक अविश्वसनीय जान पड़ने लगता है। लक्ष्मी की सास ने देखा कि उसकी शान्ति और सन्तोष का मूल कारण है उसका पुत्र। इसलिए उनके हृदय का सारा आक्रोश इस निरपराध निष्पाप नवजात शिशु के विरुद्ध फुफकार मचाने लगा। बच्चे के लिए शीर्ण देह और क्लिष्टप्राण माता का दूध पर्याप्त नहीं होता था, इसलिए उसे समय-समय पर गाय का दूध भी पिलाना पड़ता था। लक्ष्मी की सास इस दूध में कभी क्विनाइन मिला देती, कभी गोलमिर्च पीसकर दूध उबालते समय उसमें डाल देती और छलनी से छानकर लक्ष्मी को उसे पिलाने के लिए दे देती। बच्चा दूध पीता और चिल्लाने लगता। कभी बच्चे के लिए दूध एकदम न रहता—सास और ननद मिलकर सब स्वयं गटक जातीं। लक्ष्मी सास के करतबों से कितना ही परिचित हो, फिर भी इस हद तक सन्देह करने के लिए वह तैयार न थी कि वह अपने पोते का भी अनिष्ट चाहेगी। फिर भी वह यथासम्भव दूध स्वयं गरम करके बच्चे को पिलाती थी।

"एक दिन लक्ष्मी किसी काम में व्यस्त थी। बच्चा आनन्द से हिण्डोले में लेटा हुआ अपने दोनों पाँवों को हिलाता हुआ ऊपर की ओर मुँह करके न मालूम सृष्टि की किस अज्ञात रहस्यमयी लीला के रस से पुलकित होकर मधुर-मधुर मुसका रहा था और हर्ष की किलकारियाँ भर रहा था। इतने में लक्ष्मी की सास ने एक कटोरे में थोड़ा-सा दूध और एक छोटा-सा चम्मच लेकर उस कमरे में प्रवेश किया। बच्चा उन्हें देखकर, पाँवों को और भी तेज़ी से हिलाकर और मुँह में उङ्गली डालकर हर्षध्वनि करने लगा। सास ने एक बार इधर-उधर झाँककर उसे चम्मच से दूध पिलाना शुरू कर दिया। थोड़ी देर में लक्ष्मी वहाँ आई तो वह यह दृश्य देखकर चकित रह गई, क्योंकि आज यह एकदम

नई बात थी। उसकी सास ने इसके पहले बच्चे को कभी अपने हाथ से दूध नहीं पिलाया था। उसने देखा कि दूध का रङ्ग कुछ काला-सा है। लक्ष्मी को देखते ही सास ने सिटपिटाकर बचा हुआ दूध तत्काल गिरा दिया और वहाँ से चल दी। लक्ष्मी आशङ्का से घबरा उठी। कुछ ही समय बाद बच्चा वेदना से छटपटाने लगा और चीख़ने लगा। उसका मुँह अस्वाभाविक रूप से तमतमा उठा था और आँखें चढ़ आई थीं। धीरे-धीरे उसकी आँखें झपने लगीं और मुँद सी आईं। लक्ष्मी ने उसके सर पर हाथ लगाया, मालूम होता था कि जलता हुआ तवा है। थोड़ी देर तक वह उसी हालत में निष्पन्द लेटा रहा, फिर छटपटाता हुआ करवट बदलने की चेष्टा क ने लगा, पर आँखें मुँदी ही रहीं। ठाकुर साहब उस समय घर पर नहीं थे। लक्ष्मी ने नौकर को भेजा कि ठाकुर साहब को और डॉक्टर को बुला लावे। नौकर नया था, उसे पता नहीं था कि कहाँ ठाकुर साहब मिलेंगें और कहाँ डॉक्टर। ठाकुर साहब दो घण्टे से पहले न आ सके, और डॉक्टर जब आया तो बच्चा सदा के लिए आँखें मूँद चुका था।

"लक्ष्मी धरती पर पछाड़ खाकर धाड़ें मार-मारकर रोने लगी और सिमेण्ट पर ज़ोरों से बार-बार सर पटकती कहने लगी—हाय! मार डाला! हत्यारी ने मेरा बच्चा मार डाला। अब मैं क्या करूँ! अब क्या होगा! हाय! बुढ़िया तूने मेरे लाड़ले को ज़हर पिला दिया।

"बुढ़िया उसी दम तमककर बोल उठी—'यह कुलबोरन मुझसे कहती है कि ज़हर पिला दिया! मुँह में कीड़े पड़ेंगे, कीड़े! हाँ, ऊपर से भगवान् देखते हैं। तेरा लड़का था तो क्या वह मेरा पोता नहीं था! कितना दुलार करती थी, कैसे प्यार से उसके लिए दूध गरम किया करती थी! और यह नमकहराम मुझसे कहती है कि ज़हर पिला दिया! हाय भगवान्! तुम्हीं न्याय करना। हे धरती! तुम्हीं विचार करना!'—कहकर वह धरती पर सिर रखकर रोने लगी।

"कौशल्या ने कहा—'भला देखो! अपने पोते के लिए कभी कोई

ऐसा कर सकता है। ऐसी बात मुँह से निकालते हुए इस सत्यानाशी की जीभ जल नहीं जाती !'

"पर लक्ष्मी किसी की बात का कोई जवाब न देकर बिलख-बिलख-कर कहती जाती थी—'हाय बुढ़िया ! तेरा कभी भला न हो ! तेरा सत्यानाश हो ! इस अनर्थ का फल तुझे इसी जन्म में मिले !' इत्यादि-इत्यादि।

"अन्त में बुढ़िया रह न सकी। 'अच्छा तू ऐसा कहती है ?' कहकर उसने पुत्र-शोक से विह्वल उस आर्त्त नारी के सिर के बाल पकड़कर उसे बेरहमी से पीटना शुरू कर दिया। ठाकुर साहब पास ही खड़े थे। यह अन्धेर वह न देख सके। आज जीवन में प्रथम बार उन्होंने अपनी माता का विरोध करते हुए उसका हाथ थाम कर कहा—'बस हो गया ! अन्याय और अत्याचार की हद हो गई !'

"बुढ़िया कुछ देर तक स्तम्भित-सी होकर पुत्र का मुँह ताकती रह गई। फिर कहने लगी—'बहू का क्या कुसूर, जब बेटा ही नालायक हो गया ! कलजुग है, कलजुग !' इसके बाद ठाकुर साहब फिर कुछ न बोले। अपने आचरण पर उन्हें लज्जा-सी होने लगी थी।

"तब से लक्ष्मी अधपगली-सी हो गई। घर का काम-धंधा उसने एकदम छोड़ दिया। हर वक्त बड़बड़ाती और झींखती रहती, मौक़े-बेमौक़े सास-ननद से झपट पड़ती और मार खाती रहती। उसके सिर के बाल चौबीसों घण्टे बिखरे पड़े रहते। न उन्हें वह धोती, न कभी तेल लगाती और न कंघी-चोटी करती। बदन के कपड़े भी उसके मैले रहते। उन्हें वह कभी न धोती थी, न बदलती थी। उसने नहाना-धोना भी छोड़ दिया था। बच्चे के जन्म से ही उसका शरीर अस्वस्थ रहने लगा था। अब उसे खाँसी और ज्वर ने भी आ घेरा। फिर भी भूख उसकी बिलकुल कम न हुई, पर भरपेट भोजन उसे कभी नहीं मिलता

था और तरस कर रह जाती थी। वह लड़ती, झगड़ती, चिल्लाती कि उसे भूख लगी है, उसे इच्छा भर खाने को मिले। पर दो-एक रूखी-सूखी रोटियों के सिवा उसे कुछ भी नहीं दिया जाता था। ठाकुर साहब अब मा, बहिन और पत्नी तीनों के प्रति उदासीन हो गए थे—उनकी तरफ़ से कोई मरे चाहे कोई बचे। मेरी पत्नी अक्सर ठाकुर साहब के यहाँ आया-जाया करती थीं। वह चोरी-छिपे, अंगूर, मुनक्के, साबूदाने के पापड़ आदि ले जाकर लक्ष्मी को दे दिया करती थी। लक्ष्मी उन चीजों पर ऐसा झपट्टा मारती जैसे कोई भूखा भेड़िया अपने शिकार पर झपटता है, और उसी दम खाना शुरू कर देती। खा-पीकर, कुछ तृप्त होकर, मेरी पत्नी के साथ लक्ष्मी जब बातें करती तो उस समय उसके मुख में जो सहज मधुर भाव और सरल स्नेह की सहृदयता झलकती उसे देखते हुए यह अनुमान लगाना असंभव हो जाता था कि वह अपनी सास और ननद के साथ उग्रता से लड़ती-झगड़ती होगी। मेरा तो यह विश्वास है कि उसका स्वभाव मूलतः कुछ बुरा नहीं था, पर परिस्थितियों ने उसके हृदय में कटुता का विष घोल दिया था।

"उसका रोग बढ़ता चला गया और उसका शरीर शीर्ण से शीर्णतर होता गया। अन्त में यह नौबत आई कि वह बिस्तर पर से उठने के योग्य न रही। उसकी सास और ननद इस हालत में भी उसकी परिचर्या करना उचित नहीं समझती थीं और सिर्फ़ दो-एक बार उसके पास जाती थीं और जब जातीं तो कुछ जली-कटी सुना आतीं। वह उस अधमरी हालत में भी चीख़ मारकर कहती—'मैं मर रही हूँ, मुझे दूध दो या कुछ खाने को दो!' पर वहाँ सुनता कौन था! ठाकुर साहब जब स्वयं दूध गरम कर पाते तो थोड़ा-सा उसे मिल जाता, वरना तरस कर रह जाना पड़ता। फिर भी ठाकुर साहब अकेले दम यथासम्भव उसकी परिचर्या करते थे।

"सभी जानते हैं कि क्षयरोग के रोगी अन्त तक बदहवास नहीं

होते। जिस दिन उसकी मृत्यु हुई उस दिन सुबह से ही वह अपने को और दिनों की अपेक्षा चंगी अनुभव कर रही थी, यहाँ तक कि उसे विश्वास होने लगा था कि अब वह अच्छी होने लगेगी। मेरी पत्नी का ऐसा अनुमान है कि घोर कष्टकर और निरानन्दमय जीवन बिताने पर भी उसे मरने की इच्छा कभी एक दिन के लिए भी नहीं हुई! कारण सम्भवतः यही था कि उसकी बीमारी की हालत में अपने पुत्र की हत्याकारिणी के विरुद्ध प्रतिहिंसा की आग भयङ्कर रूप से जाग पड़ी थी। ख़ैर, मैं पहले ही कह चुका हूँ कि मृत्यु के दिन सुबह से ही वह स्वस्थता का अनुभव करने लगी थी। उसने पति से कहा भी कि मैं अब अच्छी हो जाऊँगी। यहाँ तक कि वह थोड़ी देर के लिए उठकर बैठी भी। उस दिन मैं अपनी पत्नी को साथ लेकर वहीं गया हुआ था। अकस्मात् ऐसा मालूम हुआ कि वह सारे शरीर में एक असाधारण और अभूतपूर्व दुर्बलता का अनुभव करने लगी है। उसके हाथ पाँव जैसे टूटे जाते थे। वह परास्त होकर बिस्तर पर चित लेट गई। थोड़ी देर में उसका ऊर्द्ध श्वास चलने लगा। उसकी बोलने की शक्ति स्पष्ट ही एकदम तिरोहित हो गई। विवश, व्याकुल आँखों से वह हम लोगों की ओर देखती हुई केवल 'उहँ! उहँ!, का अत्यन्त क्षीण शब्द मुँह से निकाल रही थी। कमरे में मृत्यु का सन्नाटा छाया हुआ था और सब लोग स्तब्ध खड़े थे। एक आदमी डॉक्टर को बुलाने के लिए भेज दिया गया था। उसकी सास भी वहीं पर आ गई थी। इतने दिनों के बाद अन्त में सदा के लिए बहू से छुटकारा पाने की निश्चित आशा से उसके मुख में हर्ष का उल्लास समाता नहीं था, जो दर्शकों को अत्यन्त भयावह और विरक्त लगता था। लक्ष्मी निरतिशय विवशता की चरम म्लान दृष्टि से सास की ओर देख रही थी। सहसा मृत्यु की उस भीषण जड़ निस्तब्धता को अत्यन्त बीभत्स रूप से भङ्ग करती हुई बुढ़िया मरणासन्न बहू को लक्ष्य करके अत्यन्त विकृत स्वर में बोल उठी—अब क्या देखती है? अब तू मेरा कुछ नहीं कर सकती! देती क्यों नहीं अब गाली? अभागिनी,

अपने कुकर्मों का फल भोगने के लिए अब तू नरक को जा रही है। यमदूत अभी आते ही होंगे।

"सब लोग आतङ्कित और भयभीत होकर उस पिशाचिनी बुढ़िया की ओर देखने लगे। पर बुढ़िया बहू की ओर टकटकी लगाए खड़ी थी। मैंने स्पष्ट देखा कि बुढ़िया की निर्मम कटूक्ति सुनकर लक्ष्मी ने ऐसी विकृत और उत्कट घृणा और विकट हिंसा की दृष्टि से बुढ़िया को ताका कि वह शायद जीवन में प्रथम बार आतङ्क की अनुभूति से दहल उठी। इसके दूसरे क्षण बाद लक्ष्मी की श्वास-क्रिया सदा के लिए बन्द हो गई।

"इस घटना के कुछ ही दिन बाद बुढ़िया पागल हो गई। उसकी बातों से लोगों को यह विश्वास हो गया कि बहू की प्रेतात्मा ने उसे निर्ममता के साथ धर दबाया है। उसके पागलपन ने बीभत्स रूप धारण कर लिया। स्वयं छः मास तक घोर कष्टकर रोग की असह्य यन्त्रणा झेलने के बाद अन्त में अत्यन्त घृणित तथा गलित अवस्था में उसकी मृत्यु हो गई। इसके बाद लक्ष्मी की ननद कौशल्या का सारा शरीर किसी विकृत रोग से सड़ने-गलने लगा और एक वर्ष के बाद वह भी अत्यन्त दुर्दशा को प्राप्त होकर चल बसी। ठाकुर साहब इस्तीफ़ा देकर यहाँ से कहीं चले गये और अज्ञातवास करने लगे।

"तब से जो भी व्यक्ति इस कोठी में कुछ समय के लिए रहा वह जीवित नहीं रहा—सिर्फ़ एक व्यक्ति को छोड़कर, जिनका उल्लेख मैं पहले ही कर चुका हूँ।"

सूर्य पश्चिम की ओर ढल गया था। मैं स्तब्ध होकर चतुर्वेदीजी द्वारा वर्णित रोमाञ्चकर वृत्तान्त सुन रहा था। जब वह क़िस्सा ख़तम कर चुके तो मेरा यह हाल था कि गला बिलकुल सूख जाने के कारण मुँह से एक शब्द निकालने की शक्ति नहीं रह गई थी।

चतुर्वेदी जी ने कहा—"इसीलिए मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि

अब आप एक क्षण के लिए भी उस कोठी में न रहें और अगर अभी किसी दूसरे मकान में आपके रहने का प्रबन्ध नहीं हो पाता तो मेरे ही साथ आकर रहें, बल्कि अभी सीधे मेरे साथ चलें। आपका समान पीछे मँगा लिया जायगा।"

मुझे भी अब उस कोठी में वापस जाने का साहस बिलकुल नहीं होता था। इसलिए बिना किसी तर्क के चतुर्वेदी जी के साथ हो लिया।

गोदावरी की काशी-यात्रा

[१]

पाँड़े भाइयों की दिन-दिन बढ़ती देखकर गाँववालों को आश्चर्य होता था, पर सभी को सुख मिलता था, यह बात नहीं कही जा सकती। इसका कारण यह नहीं बताया जा सकता कि पाँड़े-बन्धुओं का स्वभाव अच्छा नहीं था, या वे गाँववालों को किसी प्रकार का कष्ट देते थे। बल्कि उन तीनों भाइयों का-सा नम्र स्वभाव गाँव-भर में शायद ही किसी का हो। पर मानव-प्रकृति अत्यन्त विचित्र और रहस्यमय है, और इस सम्बन्ध में ज्ञानी लोगों का यह अकाट्य उपदेश ही मौन भाव से सिरमाथे रखना पड़ता है कि सबको प्रसन्न करने की चेष्टा व्यर्थ है। उन लोगों की निन्दा करनेवालों में से अधिकांश लोग ऐसे थे, जो उनके स्वभाव की मधुरता के कारण ही उनसे विशेष रूप से जलते थे। वे लोग उसे उनका ओछापन बतलाते थे और कहते थे कि दस-पाँच बीघा ज़मीन ख़रीद ली है तो मारे घमण्ड के फूले नहीं समाते; इतना लोभ बढ़ गया है कि सब तरफ़ से वाहवाही और यश लूटना चाहते हैं, इसीलिए बड़े नम्र बनकर धीरज और बड़प्पन के साथ बातें किया करते हैं। कोई-कोई कहते थे कि अरे भाई धन कौन नहीं कमा लेता! तराजू के पलड़े हैं—कभी इस तरफ़वाला झुका तो कभी उस तरफ़वाला; पर इज्जत-आबरू से निभ जाने में सारी तारीफ़ है।

सबसे बड़े भाई गङ्गादीन पाँड़े और उनसे छोटे मातादीन गाँव में रहकर ज़र, ज़मीन और जोरू की देखभाल किया करते थे। सबसे छोटे रामदीन पाँड़े बनारस में ओवरसियर थे। उन्हीं के कारण बड़े भ्राताद्वय काफ़ी ज़मीन ख़रीदकर और एक बड़ा भवन खड़ाकर गाँववालों की ईर्ष्या

के पात्र बने थे। दस साल पहले उन लोगों की जो दशा थी, उसकी अब वे लोग अपने दुश्मन के लिए भी कामना नहीं करते थे।

गाँववालों की कुदृष्टि कहिए या भाग्य का फेर कहिए, कारण कुछ भी हो, तीन भाइयों में से एक को भी पुत्र का मुँह देखने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ। गङ्गादीन के दो लड़कियाँ थीं। बड़ी का नाम गोदावरी था और छोटी का सुभद्रा। मातादीन की इकलौती लड़की का नाम श्यामा था। रामदीन निस्सन्तान थे। गोदावरी सारे कुटुम्ब की लाड़िली लड़की थी। वह स्वभाव की हठीली रोने में निपुण, क़द में मोटी और देखने-सुनने में साधारण थी। पर यह सब होने पर भी उसके स्वभाव में न मालूम एक ऐसी क्या विशेषता थी कि घरवाले अन्य दो छोटी लड़कियों की अपेक्षा उसी को अधिक प्यार करते थे। पर उसकी अम्माँ प्रेमा उसके कारण बड़ी परेशान रहती थी। बात-बात में उसकी ज़िद उनसे नहीं सही जाती थी और वह उसे अक्सर पीटा करती थीं। वह रोती हुई कभी अपनी बड़ी चाची सुखदेवी के पास चली जाती थी, कभी अपने चाचा के पास जाकर नालिश करती। बाबूजी के पास वह इसलिए न जाती थी कि अम्मा का पक्ष छोड़कर वह उसका पक्ष लेंगे, यह आशा उसे नहीं रहती थी। चाची और चाचा उसे गोद में लेकर चुमकारकर, दिलासा देकर, खिला-पिलाकर शान्त करते थे। उसकी अवस्था यद्यपि दस साल की हो गई थी, तथापि वह मौक़े-बे-मौक़े चाची और चाचा की गोद में जाकर, उनके गले में अपनी दो सुकुमार बाँहें डालकर इस तरह बैठ जाती कि कैसा ही जरूरी काम क्यों न पड़ा हो, उन लोगों को उसका बाहुपाश छिन्न करके उससे अलग बैठने के लिए कहने की इच्छा नहीं होती थी।

सुभद्रा और श्यामा के साथ वह गुड़ियों के खेल करती थी, उन्हें कभी कभी सयानी औरतों की तरह लाड़ जतलाकर चुमकारती थी, कभी सस्नेह उनकी किसी भूल के लिए तिरस्कृत करती थी। पर इच्छा न होने पर भी बहुधा उन दोनों के साथ उसका झगड़ा हो जाया करता

प्रेमा क्रोध से सर्वत्र अन्धकार देख रही थीं। उनके होंठ काँप रहे थे, पर मुँह से एक शब्द नहीं निकलता था। वह इसी इन्तजार में थीं कि अगर गोदावरी का अपराध प्रमाणित हो जाय तो उसके बाल खींचकर, लात और घूँसों से उसे मारकर दिल की आग बुझावें। पर उसके अपराध का ठीक-ठीक प्रमाण नहीं मिलता था। इधर सुखदेवी अपनी लड़की की शरारत का हाल सुनकर आग-बबूला हो रही थीं। वह जानती थीं कि ऐसा अच्छा शहद अब मिलने का नहीं। "तेरे मुँह में कीड़े पड़ जायँ कलमुँही, तू पेट ही में मर नहीं गई। तेरा सत्यानाश हो।" कहकर उसने उसे इस तरह बेभाव मारना शुरू किया कि प्रेमा भी काँप उठीं। सुखदेवी का हाथ पकड़ने को चेष्टा करने लगीं, पर सुखदेवी उन्मत्त की तरह झटके से हाथ छुड़ाकर उसे बेमुरौवती के साथ पीटती जाती थीं। प्रलय आ गया था। श्यामा चीखें मार-मारकर रोती थी और कहती थी—"ताई, मुझे छुड़ा दे! काका, तुम कहाँ हो! अबसे नहीं करूँगी! दीदी, मैंने क्या किया!" इत्यादि। गोदावरी कुछ देर तक यह प्रलयान्तक काण्ड देखती रही। पर अब न रह सकी। वह भी अचानक चिल्ला-चिल्ला-कर रोने लगी और चाची का हाथ थामने की चेष्टा करके कहने लगी—"चाची, अब उसे न मारो! उसका कसूर नहीं है। मैंने ही बोतल गिराया है, मुझे मारो! न, न, उसे न मारो!" कहकर वह माँ और बेटी के बीच में आकर खड़ी हो गई।

प्रेमा ने आगे बढ़कर कहा—"तो अब तक तूने क्यों नहीं कहा, कलमुँही! क्या मर गई थी, छोकरी?" कहकर वह उसका हाथ पकड़ने के लिए आगे बढ़ीं। अपनी निरपराध लड़की का आर्त्तक्रन्दन सुखदेवी का कलेजा फाड़ खा रहा था। पर उन्होंने गोदावरी को जोर से पकड़ लिया और 'रहने दो, जीजी, अब क्या हो सकता है!" कहकर प्रेमा को शान्त करने लगीं।

[२]

इस प्रकार हास्य और क्रन्दन, स्नेह और स्वार्थ के साथ गोदावरी की प्रथमावस्था व्यतीत हुई। बारह वर्ष की अवस्था में उसका विवाह हो गया। गङ्गादीन अनेक चेष्टाओं के बाद किसी 'उच्च कुल' का एक अशिक्षित उजड्ड छोकरा उसके लिए ढूँढ़ने में समर्थ हुए थे। पाँड़े-बन्धु एक तो यों ही अकुलीन समझे जाते थे, तिस पर गाँववाले ईर्ष्या के कारण उन लोगों पर अनेक झूठे कलंक आरोपित करने की चेष्टा में थे। इस कारण किसी कुलीन घराने के साथ सम्बन्ध स्थापित करने के लिए वे लोग बहुत दिनों से लालायित थे। बहुत खोज के बाद एक निर्धन, पर कुलीनता के दर्प से स्फीत वर का पता चला। काफ़ी पूँजी से वर के पिता को पुरस्कृत कर के गङ्गादीन ने राज़ी किया।

दामाद का नाम भवानीशङ्कर था। वह अत्यन्त धूर्त, गँवार और लट्ठ था। विवाह के समय उसकी अवस्था सोलह वर्ष की थी। गङ्गादीन को यह आशा तो न थी कि वह अब सँभल सकता है तथापि शहर में जाकर कुछ सभ्य हो जायगा, इस ख्याल से उसे उन्होंने बनारस रामदीन के पास भेज दिया। गोदावरी को उन्होंने अपने पास ही रक्खा।

गौना होने के समय से ही गोदावरी बिना किसी के सिखाये मङ्गल और तीज के व्रत रखने लगी। पति की मङ्गलाकांक्षा के सम्बन्ध में वह अभी से चैतन्य हो गई है, यह देखकर प्रेमा और सुखदेवी आनन्द से गद्गद हो उठीं। कभी-कभी वे इस सम्बन्ध में उसे व्यङ्ग और परिहास के द्वारा खिझाया भी करती थीं। सुखदेवी जब हँसकर उससे कहतीं—"ऐसा निखट्टू दुलहा पाकर ही तू इतनी इतरा गई है री, अच्छा वर मिलता तो जमीन में पैर ही न रखती!" तब वह क्रोध से मुँह फुलाकर कहती—"तुम्हें मेरी क्या फिकिर पड़ी है, मैं जैसा भी करती हूँ तुम्हारा क्या बिगाड़ती हूँ!" जब बहुत खीझ उठती तो उन्हें मारने भी लग जाती।

उसने एक हँडिया में मिट्टी डालकर उसमें अपने लिए अलग एक

तुलसी का पौदा लगा रक्खा था। सुबह को स्नानादि से निवृत्त होकर वह नित्य उसकी पूजा करती और सन्ध्या को उसकी आरती उतारती थी। गाँव में एक पीपल के पेड़ के पास शिवजी का मन्दिर था। वह वहाँ भी नित्य जाकर पूजा कर आती थी और पीपल की जड़ में पानी डाल आती थी। व्रत के दिन वह श्यामा और सुभद्रा को साथ लेकर बहुत दूर-दूर जाकर दोना भर-भरकर ढेर-के-ढेर फूल और बेल-पत्र चुन लाती थी और असहाय देवतों को उनसे इतना ढक देती थी कि उनका दम ही घुट जाता रहा होगा।

अपने सुहाग के सम्बन्ध में वह इतनी सचेत हो गई थी, पर दूसरी बातों में वह अभी लड़कपन ही जाहिर करती थी। पहले की तरह अब भी वह तुतलाकर बोलती थी, चाचा और चाची की गोद में जाकर बैठ जाती थी, गुस्सा आने पर उन्हें मारने भी दौड़ती थी, अच्छी-अच्छी चीज़ें खाने के लिए ज़िद करती थी। वह बड़ी चटोर थी और इसी कारण उसकी पाचन-शक्ति भी अच्छी नहीं थी। अक्सर उसके पेट में मरोड़ें उठा करती थीं। पर खाना फिर भी नहीं छोड़ती थी।

अच्छे कपड़े पहनने का भी उसे ख़ूब शौक़ था। बनारस से उसके छोटे चाचा उसके लिए कितनी ही अच्छी-अच्छी साड़ियाँ भेजा करते थे। पर उनमें से एक-आध ही उसे पसन्द आती थी। एक दिन प्रेमा एक-एक करके उसे साड़ियाँ दिखाने लगीं और उससे अपने लिए पसन्द कर लेने को कहा। उसके मन की एक भी न होने के कारण उसे इतना गुस्सा आया कि उसने दो साड़ियाँ चीर डालीं। उस दिन प्रेमा का मन या तो मैके की किसी ख़ुशख़बरी से प्रसन्न था या गोदावरी के मिजाज की तेज़ी में ही उस समय कुछ ख़ास बात थी। कारण कुछ ठीक नहीं बतलाया जा सकता, पर यह निश्चय है कि और दिनों की तरह प्रलय आने के बदले वह इस बात से सस्नेह हँस गई थीं।

प्रेमा अब उसे मारती न थीं। लड़की उम्र और बुद्धि में भी काफ़ी सयानी हो चुकी थी। पर माँ-बेटी में बनती न थी। लड़की के प्रत्येक

दासियाँ और छोटी-छोटी बहनें, सभी का दिल उसके विच्छेद की भावना से भर-भर आने लगा। प्रेमा और सुखदेवी तो सूखकर काँटा होने लगीं। ससुराल जाने के लिए गोदावरी को अत्यन्त उत्सुक देखकर सुखदेवी मन-ही-मन जल उठीं। वह उनका इतने दिनों का प्यार इतनी जल्दी भूलकर सास ससुर के लिए अनुराग दिखाने लगी है! वहाँ जाकर जब चूल्हा-चक्की के काम से पिसना पड़ेगा और सास की दुलत्तियाँ खानी पड़ेंगी, तब मालूम होगा कि आटे-दाल का क्या भाव है। गोदावरी की विदाई के पहले दिन वह दिन-भर और रात-भर अपने सोने के कमरे में बैठकर किवाड़ बन्द करके सिसक-सिसककर रोती रहीं। आँसुओं की झड़ी लगी हुई थी और किसी तरह थमना नहीं चाहती थी।

पर विच्छेद अनिवार्य था। विदा होने के समय गोदावरी अम्माँ और चाची के अञ्चल में मुँह ढाँप-ढाँपकर बिलख-बिलखकर रोई। उनका भी यही हाल था। पालकी तैयार थी। गोदावरी बैठ गई। कहार ले चले।

[३]

पर शीघ्र ही उसे अपनी भूल मालूम हुई। उसने अपने सास-ससुर की जैसी कल्पना कर रखी थी, वे वास्तव में वैसे नहीं थे। इससे पहले जब ससुराल गई थी तो इन सब बातों के अनुभव का यथेष्ट ज्ञान उसमें नहीं था। पर अब वह सब बातें समझने लगी थी। सास दो-एक दिन तक तो शान्त रहीं, पर उनकी उग्र मूर्ति अधिक दिनों तक छिपी न रह सकी। बात-बात में आग बरसाने लगीं। मैके में गोदावरी को काम के नाम पर कभी तिनका तक उठाना न पड़ता था। यहाँ आकर एकदम सिर पर ऐसा भार पड़ा कि वह लाख चेष्टा करने पर भी सँभाल न सकी। सास बात-बात में कभी ताने मारकर, गरजकर कहती थीं—"इतनी बड़ी हो चली है, पर अभी तक चूल्हे चक्की का अन्दाज नहीं आया। बड़े घर की लड़की है तो हम कौन छोटे घर की हैं? काम करने से

किसी की जात थोड़े ही चली जाती है !" गोदावरी आन्तरिक मन से चाहती थी कि वह सास को तकलीफ न देकर घर के सब काम करे, पर अभ्यास न होने के कारण कोई भी काम अच्छी तरह से सँभाल नहीं सकती थी। काम का भार और सास की प्रकृति देखकर उसका दिल दहल उठा। वह व्याकुल हो मन-ही-मन हाथ जोड़कर कहने लगी—"भगवान्, क्या मेरे दिन इस तरह कट जायँगे !"

दिन तो कटते ही जाते हैं, पर उसके लिए सृष्टि ही बदल गई थी। दिन भर उसे रोने की फुर्सत नहीं होती थी। कभी कुएं से पानी निकालती, कभी चूल्हा जलाना पड़ता, कभी चक्की पीसती, कभी अपनी दो जेठानियों के साथ खेतों में जाकर काम करती।

घर में भैंस की सूरत देखकर उसे डर लगता था और कभी उसके पास जाने की हिम्मत न होती थी। पहले दिन जब उससे भैंस को चारा देने के लिए कहा गया तो उसने पहले कोई बहाना बताया। जब सास अपनी आज्ञा का पालन होते न देखकर उबल पड़ीं तो वह चुपचाप रोने लगी। इन सब 'तिरिया-चरित्रों' से सास भली भाँति परिचित थीं। इसलिए उन्होंने गरजकर कहा—"कुलबोरिन रांड़ न जाने कहाँ से आई है ! बहुत करतब दिखलायेगी तो मुँह झुलस दूँगी ! चल, भैंस को चारा दे आ।" यह कहकर उस असहाय, आर्त्त बालिका का हाथ खींचकर उसे घसीटकर वह भैंस के पास ले जाने लगीं। गोदावरी फिर छटपटाने लगी और छोटे बच्चों की तरह बेबस चिल्ला-चिल्लाकर रोने लगी। जेठानियाँ ये ढंग देखकर खूब हँसने लगीं। उनके विवाह के समय से आज तक कभी ऐसा अच्छा तमाशा उन्हें देखने को न मिला था। भैंस को देखकर इस कदर डरनेवाली बहू उन्होंने जीवन-भर कभी नहीं देखी थी।

किसी के पास घड़ी-भर बैठकर अपना दुखड़ा रोये, इसका भी उपाय नहीं था। जब तक भवानीशङ्कर घर था, तब तक तो एक सहारा था। पर वह भी जल्दी काशी को चला गया। उसके चचा के

पास रहकर वह किसी स्कूल में बिजली का काम सीख रहा था। उसके चले जाने पर तिनके का भी सहारा जाता रहा। वह कितना ही मन को समझाती कि ससुराल में जाकर सभी को काम करना पड़ता है, और ससुराल का दुःख बहू बेटियों के लिए मैके के सुख से अच्छा है, पर फिर-फिर परास्त होकर विह्वल हो जाती थी। वह अपनी जेठानियों को हँसी-खुशी के साथ काम करते हुए देखती और कितना चाहती कि उन्हीं की तरह काम करके वह भी सन्तुष्ट रहे पर किसी तरह दिल को तसल्ली नहीं होती थी। उसे ऐसा मालूम होता था कि वह अपनी अम्माँ और काका, चाची और चाचा, सुभद्रा और श्यामा से चिरकाल के लिए विच्छिन्न होकर बहुत दूर-दूर किसी अज्ञात देश में आकर भूत-प्रेत और यक्ष-पिशाचों के साथ दिन बिता रही है। वहाँ वह कितनी ही चेष्टा करे, मौत के दिन गिनने के सिवा उसके लिए कोई दूसरा चारा नहीं है। महामृत्यु के अन्धकूप से अपनी रक्षा करने के लिए वह जितना छटपटाती, उतना अपने को एक-एक पग आगे बढ़ी हुई पाती। ऐसा जान पड़ता था, जैसे कोई अज्ञात शक्ति पीछे से उसको इस अन्धकूप की ओर ढकेलती जाती हो। वह धीरे धीरे समझ गई कि इस रुद्र शक्ति का प्रतिरोध करना वृथा है।

उसकी बड़ी जेठानी भामा यद्यपि उसके प्रति विशेष प्रसन्न नहीं थीं, तथापि उनका स्वभाव घर के अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा अच्छा था। एक दिन उसने मौक़ा पाकर उनके पैर पकड़ लिये, और कहा—"जीजी, तुम लोग इतना काम करती हो, पर मुझ से क्यों नहीं होता! मुझे भी सिखाओ।"

भामा ने कहा—"बहन, यह बात नहीं है। तुमने मैके में अपनी आदत बिगाड़ रखी है। हम भी तो भिखारियों की लड़कियाँ नहीं हैं। पर मैके में भी सभी काम करती थीं। अगर न करतीं, तो आज तुम्हारी जैसी हालत हमारी भी होती।"

गोदावरी ने कहा—"पर अब इसका क्या इलाज हो सकता है,

का विष हजम कर लेने की शक्ति उसमें अधिकाधिक बढ़ने लगी। कहा नहीं जाता कि वह अब पशु से मनुष्य बनने लगी थी या मनुष्य से पशु। कुछ भी हो, ससुराल के जिस कर्म-क्लान्त जीवन के सुख की कल्पना वह बहुत दिनों से करती आई थी, उसका आभास स्वल्प परिमाण में अब मिलने लगा। सम्भव है, यह उसकी दलित आत्मा की जड़ता से उत्पन्न मोह का आनन्द हो। कोकेन खाने का अभ्यास करने से जिस प्रकार ज़बान में, दिमाग़ में सारे बदन में एक प्रकार की अस्वास्थ्यकर जड़िमा उत्पन्न हो जाती है, और उसका सेवन करने-वाला दुर्बलता के कारण झूमने पर भी, नशे के ज्वर से जर्जरित होकर शरीर में एक प्रकार की अप्राकृतिक स्फूर्ति के आनन्द का अनुभव करता है, उसी प्रकार गोदावरी भी कर्म के उत्तेजक रस का स्वाद पाकर मादकता का आनन्द प्राप्त करने लगी।

जब मन से भय हटा दिया जाता है, तो भय का कारण भी चला जाता है। गोदवरी को सहज स्वाभाविकता से काम करते देखकर सास मन-ही-मन जलने पर भी बाहर से कुछ ठण्ढी पर गईं। मिथ्या भीति ने जो विकट आकार धारण कर रखा था, उससे जब गोदावरी मुक्त हो गई तो उसे संसार को वास्तविक रूप से देखने का अवसर मिला। उसे अब मालूम हुआ कि उसकी सास का व्यवहार किसी भी बहू के लिए अच्छा नहीं है। उसकी जेठानियाँ अपने गुणों के कारण ही उनका अत्याचार झेलती जाती हैं। कुछ भी हो, अपने भीतर भी उन्हीं की जैसी सहनशक्ति का प्रादुर्भाव होते देखकर उसे विशेष प्रसन्नता हुई। पर अपनी अम्मा और चाची के राज्य से वह दिन पर दिन दूर हटती जाती थी। उसे उन्हें छोड़े हुए कुछ ही महीने हुए थे, पर उनकी स्मृति उसे अत्यन्त दूरवर्त्ती किसी पूर्वकाल की-सी जान पड़ती थी जैसे उन्हें देखे हुए अनेकों युग बीत गये हों।

अचानक उसके ससुर के पास उसके चाचा की चिट्ठी आई कि उसका पति लापता हो गया है। उनके सन्दूक़ में से रुपये चुराकर वह

न मालूम कहाँ को भाग निकला है। सास ने रो-रोकर सारा आसमान सर पर उठा लिया और वह बहू को पानी पी-पीकर कोसने लगीं। वह कहने लगीं कि उनके घर में इसी कुलच्छनी कलमुँही के आने से ऐसा हुआ। अपने पति को सुनाकर कहने लगीं कि "छोटे घर की लड़की घर में लाने से एक तो कुटुम्ब की नाक कटी और दूसरे एक ऐसी फूहड़, निकम्मी, घमण्डी बहू से पाला पड़ा। जैसे-तैसे उसे कुछ काम सिखाने भी न पाई थी कि लड़का लापता हो गया। इस कलमुँही की चाची ने उसे खाने को अच्छी तरह से न दिया होगा और वह दाने-दाने को तरसकर रह गया होगा। ऐसी हालत में वह भाग न निकले तो क्या करे! लिखते हैं, चोरी करके भागा। ऐसे धन्नासेठ के पोते ये ही लोग हैं, जो लापरवाही के साथ जगह-जगह अनगिनत रुपये रख छोड़ें। जो लोग मेरे लाल को अच्छी तरह खिला-पिला भी न सकें, वे क्या कभी रुपये के मामले में लापरवाह हो सकते हैं! सत्यानाश हो उन लोगों का, जिन्होंने बात-बात में हमें हैरान कर रखा है।" यह कहकर वह धरती पर हाथ पटककर शाप उगलने लगीं। अत्यन्त व्याकुलता के कारण भ्रान्त होकर गोदावरी स्तब्ध भाव से यह लङ्का-काण्ड देख रही थी। पति के लापता होने का धड़का तो लगा ही था, तिसपर मैकेवालों का पिण्डोद्धार होते देखकर उससे कुछ कहते न बन पड़ा।

इस प्रकार रात-दिन की झकझक से कलेजा मसोसती हुई वह अपने दिन बिताने लगी।

[४]

भादों की तीज आई। मैके से पठौनी लेकर एक आदमी आया। गोदावरी ने अपना सब हाल उसे कह सुनाया। उस आदमी ने उसके सास-ससुर से उसे विदा कराने के सम्बन्ध में प्रस्ताव किया। सास ने उलटी-सीधी दो-चार बातें सुनाईं और राजी न हुईं। बहुत जिद करने

पर उन्होंने कहा—"अच्छी बात है, लिये जाओ। पर अब इस कुल-बोरिन को कभी यहाँ न लाना। वह आज से हमारी बहू नहीं रही।" ससुर ने भी दो-चार खरी-खोटी बातें सुनाईं।

रात में गोदावरी के सब गहने उतारकर सास ने रख लिये। उसने इतना भी न पूछा कि "क्यों ऐसा करती हो? गहने तुम्हारे दिये तो हैं नहीं, मेरे काका ने दिये हैं।" वह केवल नीरव होकर सिसक-सिसककर रोती रही। दूसरे दिन पैदल चलकर मैके को वापस गई। पालकी या बैलगाड़ी का भी बन्दोबस्त नहीं किया गया।

पाँच कोस का रास्ता रोते-रोते तय करके जब वह थकी हुई, मुरझाई हुई, आभूषणहीन अपनी अम्मा के पास पहुँची तो लड़की का यह हाल देखकर भय से व्याकुल होकर प्रेमा रो पड़ीं। गोदावरी भी अम्मा के गले से लिपटकर बहुत देर तक रोती रही।

सुखदेवी ने आकर कहा,—"क्यों, अब तो सास-ससुर की बातों से मन भर गया? तब तो तूने ससुराल जाने के लिए इतनी उतावली दिखलाई कि हमसे बातें ही न कीं!"

गोदावरी ने कहा—"चाची, मेरे सब गहने ले लिये।" कहकर वह पछाड़ खाकर फूट-फूटकर रोने लगी।

सुखदेवी बोली—"गहनों के लिए क्यों रोती है, बेटी? गहने तो फिर उनसे भी अच्छे बन जायँगे। जान बचाकर यहाँ आ गई है, यही क्या कम है? हमें तो इसकी ही आशा न थी।"

गोदावरी और भी अधिक रोने लगी। उसने कहा—"नहीं, मेरे लिए कल ही गहने बनवाओ, नहीं तो मैं मर जाऊँगी।"

सुखदेवी और प्रेमा को मन-ही-मन हँसी आई और दुःख भी हुआ। इतने दुःख झेलने पर भी वह अभी वैसी ही नादान है, यह देखकर उन्हें आश्चर्य हुआ। पति लापता है, ससुरालवालों ने उसे त्याग दिया है, कुटुम्ब की नाक कटने को है, इन सब बातों का उसे ख्याल नहीं है, केवल गहनों के लिए तड़प रही है। पर इन सब बातों के समझाने

नई आशाएँ उसके हृदय में जागरित होने लगीं। उसका अन्तस्तल इस बात पर विश्वास नहीं करना चाहता था कि उसके पति उससे सदा के लिए विच्छिन्न हो गये। वह आशा करने में उसे सुख मिलता था कि सास-ससुर से कोई सम्बन्ध न रखकर भविष्य में कभी वह उनके साथ अलग रहकर अपनी घर गृहस्थी का कारबार चलायेगी।

वह देवी-देवता की मनौती करने लगी। व्रत रखने लगी। ब्राह्मणों को दान-दक्षिणा देकर उनका आशीर्वाद बटोरने लगी। पर पति का कहीं पता न चला। फिर भी उसने आशा न छोड़ी। अपना दिल समझाने के लिए वह नल-दमयन्ती की कथा पढ़ती, सीता-वनवास और द्रौपदी के चीर-हरण का उपाख्यान पढ़ती। पढ़ते-पढ़ते आँसू बहते जाते और दिल का भार हलका करती।

इस तरह ये दिन भी कटे दो साल बीत गये, पर भवानीशङ्कर के सम्बन्ध में कहीं से कोई समाचार न मिला। रात दिन व्रत रखने, पूजा करने, कथा पढ़ने और खाने-पीने की अपरिवर्त्तित गति और वैचित्र्यहीनता से गोदावरी उकता गई। जीवन का चक्र चलता गया, पर आशा का बाँध टूटने लगा। धीरे-धीरे उसका स्वास्थ्य भी गिरने लगा। दिन-दिन घुलने लगी। गङ्गादीन चिन्तित हुए। वैद्यों को बुलाया। किसी ने लवङ्गादि चूर्ण खाने को कहा, किसी ने सितोपलादि और किसी ने द्राक्षारिष्ट। वह दवाएँ भी खाने लगी और पौष्टिक भोजन भी। चटोर तो वह थी ही। इस कारण एक चीज खाने से अघाती तो दूसरी का स्वाद चखती और दूसरी से अघाकर तीसरी की ओर लपकती। स्वादिष्ट दवायें और रुचिकर पदार्थ खाने को मिल जाने के कारण वह अपनी रोग-जनित दुर्बलता भूल जाती थी। पर कुछ भी हो, रोग के कीटाणु उसके शरीर के भीतर पैठ गये थे। वे किसी उपाय से भी नहीं निकलना चाहते थे।

अकस्मात् एक दिन यह सुसमाचार प्राप्त हुआ कि भवानीशङ्कर ढाई साल कलकत्ते में रहकर बनारस लौट आया है। सारा कुटुम्ब

फिर एक बार उल्लास और हर्ष से जगमगा उठा। गोदावरी के हृदय में एक नई स्फूर्ति जागरित हुई। पर यह धड़का अभी उसे लगा हुआ था कि सास के कहने पर कहीं उसके पति भी उसे छोड़ने को राजी हो गये, तो अन्धेर हो जायगा। यद्यपि वह जानती थी कि वह उसे चाहते हैं और योंही बिना विशेष कारण के नहीं छोड़ेंगे, फिर भी आशङ्का का काँटा उसके दिल में गड़ा ही रहा।

कुछ भी हो, इस खुशी में पूर्णिमा के दिन सत्यनारायण की कथा बाँची गई। ब्राह्मण लोग न्योते गये। दूसरे दिन गोदावरी नये कपड़ों और गहनों से सुसज्जित होकर एक नौकरानी को साथ में लेकर सारे गाँव में अपने हाथ से भोग और प्रसाद बाँटने चली। घर-घर जाकर उसने गाँव की पूजनीय वृद्धा माताओं और सयानी स्त्रियों को प्रणाम किया। सबने उसकी नम्रता और विनय देखकर आन्तरिक मन से आशीर्वाद देकर कहा—"जीती रहो बेटी, तुम्हारा सुहाग बना रहे, तुम दूध-पूत से सुखी रहो।" इन मङ्गल वचनों से अपने को कृतार्थ समझकर वह घर वापस गई।

उल्लास के कारण स्वर्गलोक की आभा से उसका चेहरा जगमगा रहा था। आज वह अत्यन्त सुन्दर दिखाई दे रही थी। उसे देखकर प्रेमा के हृदय में आनन्द उमड़ पड़ा। सुखदेवी उसे निहार-निहारकर स्नेह से पुलकित हो उठीं और उनका हृदय गद्गद हो आया। उन्होंने उसे छाती से लगाया और हर्ष के आँसू बहाये।

गोदावरी अब अधीर होकर पति की बाट जोहने लगी। उसे पूरा विश्वास था कि वह अवश्य एक बार उससे मिलने आयेंगे। घड़ी-घड़ी, पल-पल वह इसी प्रतीक्षा में बैठी थी। एक दिन उसने चाची से अत्यन्त सङ्कोच के साथ इङ्गित करके कहा कि बनारस से उन्हें यहाँ आने के लिए एक चिट्ठी लिख दी जाय।

सुखदेवी ने सस्नेह मुस्कराकर कहा—"चिट्ठी तो तुम्हारे चाचा भेज भी देते बेटी, पर कुछ दिन अभी उन्हें अपने छोटे चाचा और

छोटी चाची के वश में होने दो। जङ्गल की चिड़िया उतावली करने से कहीं जङ्गल को ही उड़ न जाय।"

गोदावरी भी मुस्कराकर बोली—जङ्गल की चिड़िया को यहीं सोने के पिंजड़े में बन्द रखेंगे।"

[५]

भवानीशङ्कर यद्यपि अशिक्षित और धूर्त था, तथापि उसके स्वभाव में एक ऐसी प्रवृत्ति वर्तमान थी, जो उसे व्यावहारिक संसार की सभी बातों को जानने के लिए उत्सुक करती थी। गाँव में रहने से उसे इसके लिए सुभीता न था। बनारस में आकर उसे दुनिया के नये-नये कारबार देखने का अवसर प्राप्त हुआ। पढ़ने-लिखने में न उसका जी लगता था, न अब इस अवस्था में वह सम्भव ही था। इसलिए रामदीन ने उसे बिजली का काम सिखाना चाहा। इस काम में उसका मन तो लग गया, पर एक चञ्चलता भी उत्पन्न हुई। बिजली के कारख़ाने की कारीगरी से परिचित होने पर उसे सभी प्रकार के कारख़ानों का तजर्बा हासिल करने की धुन सवार हुई। वह पहले भागकर कानपुर गया। वहाँ के मिलों में थोड़ा-बहुत काम सीखकर कलकत्ते भाग निकला। लोगों को बातों से वश में करने में वह बड़ा चतुर था। एक बड़े अंगरेज़ फ़र्म में उसे नौकरी मिल गई। कुछ महीनों तक उस फ़र्म में सेल्समैन का काम करके वह वहाँ भी चित्त स्थिर न रख सकने के कारण बड़ा बाज़ार में मारवाड़ियों के साथ रहकर दलाली करने लगा। इस काम में काफ़ी रुपये कमाकर ऐयाशी में उड़ाता गया। इसके बाद दलाली से भी मुँह मोड़ कर जौहरियों के साथ जवाहरात का काम सीखने लगा। यह काम भी जब बहुत कुछ सीख चुका तो न जाने उसे क्या सनक सवार हुई, एक दिन बनारस को वापस चला आया।

रामदीन और उनकी स्त्री कमला ने उसकी बड़ी आवभगत की। उसकी बातों से उसके यथार्थ व्याहारिक ज्ञान का परिचय पाकर उन्हें

आन्तरिक प्रसन्नता हुई। कमला बड़ी चतुर थीं। उसके साथ प्रेम का बरताव करके, उसकी बुद्धि की प्रशंसा करके नित्य मीठी-मीठी बातों से उसे फुसलाने लगीं! जब देखा कि वह काबू में आ गया है, तो उसे गोदावरी का सारा क़िस्सा कह सुनाया। भवानी पहले से ही अपनी अम्माँ के स्वभाव से परिचित था। गोदावरी को वह चाहता था। इस कारण उसने कमला को दिलासा दिया और कहा—"चिन्ता की कोई बात नहीं है। मैं अम्माँ को मना लूँगा। अम्माँ न भी मानेंगी, तो मैं उसे कभी नहीं छोड़ूँगा।"

कमला ने स्नेह से उसकी पीठपर हाथ रखकर कहा—"बेटा, तुम सुखी रहो। हमें तुम्हारा ही भरोसा है।"

कलकत्ते जैसे शहर में ऐयाशी करके गाँव जाने के लिए वह उत्सुक नहीं था। घरवालों की नीचता का हाल सुनकर घर की तरफ़ से उसका मन और भी सिकुड़ गया। इसलिए वह बनारस ही रहा। वहाँ आने के प्रायः एक महीने बाद उसने गोदावरी को एक पत्र लिखा। उसमें 'प्राणप्यारी', 'चिन्ता', 'विरह', 'व्याकुल' आदि शब्दों की भरमार थी। यह अप्रत्याशित पत्र पाकर गोदावरी के आनन्द की सीमा न रही।

उसने उसे कितनी ही बार पढ़ा, छाती से लगाया चूमा; उसके भीतर मुँह छिपाकर आँसुओं से उसे भिगोया। इस पत्र के उत्तर में उसने भी एक लम्बा-चौड़ा पत्र लिखा, और उसमें यह प्रार्थना की कि एक वार अवश्यमेव वह आकर उसे दर्शन दे नहीं तो वह प्राण छोड़ देगी।

फलतः भवानी आ उपस्थित हुआ। खोई निधि पाकर जो सुख मिलता है, उसका वर्णन ही कैसे हो सकता है! पाँड़े-भवन के सभी अधिवासी अपनी दीर्घकालव्यापी जड़ता त्यागकर उमङ्ग से जाग पड़े। ऐसा मालूम होने लगा जैसे दुःख के धूम्र से धूमिल, श्रीहीन, म्लान घर का निर्वाणोन्मुख दीपक फिर नये सिरे से जगमगा उठा हो।

स्वामी के साथ गोदावरी की अनेक बातें हुईं। वह रोई, अपना दुखड़ा सुनाया। उसने मिन्नतें करके कहा—"अब मुझे मत छोड़ना। जहाँ जाओगे, मुझे अपने साथ लो। मैं चरणों की दासी हूँ; जैसा कुछ भी बन पड़ेगा जी-जान से सेवा करना चाहती हूँ।"

भवानी ने वचन दिया।

कुछ दिन गोदावरी के साथ रहकर उसने घर जाने की इच्छा प्रकट की और उससे कहा—"तुम यहीं रहो, मैं जल्दी लौटकर तुम्हें कलकत्ते ले चलूँगा। वहाँ थियेटर, सिनेमा, सरकस और बड़ी-बड़ी इमारतें देखकर खुश हो जाओगी। वहाँ बड़े आनन्द से हमारे दिन बीतेंगे।"

वह चल गया। गोदावरी की आशा तृष्णा लगी रही। घर जाकर माँ-बाप की घुड़कियाँ सुनकर भवानी का चित्त खिन्न हो उठा। वह सोचने लगा—"इन लोगों को दुनिया की क्या खबर! कितने रङ्ग-ढङ्ग देखकर, कितने तजर्बे हासिल करके मैं यहाँ आया हूँ, पर ये कुएँ के मेंढक अपने ही टर्राने में मस्त हैं।" दुःख, शोक और ग्लानि के कारण उसकी चञ्चलता फिर एक बार जागरित हो उठी। उसे पूरा विश्वास हो गया कि अपने देश में रहकर आदमी की कोई इज्जत नहीं होती।। परदेश में रहकर ही जीवन का आनन्द लूटा जा सकता है। फलतः वह एक दिन चुपके से घर से फिर भाग निकला और सीधा बनारस चला आया। एक दिन और एक रात रामदीन के पास रहकर सटक सीताराम! सुखदेवी ने ठीक ही कहा था कि यह जङ्गली पक्षी हाथ आने का नहीं। किसी-न-किसी दिन फिसल ही जायगा।

रामदीन को बड़ा आश्चर्य हुआ। भवानी के घरवालों को चिट्ठी लिखी और पूछा कि कहीं वहाँ को वापस तो नहीं चला गया। उसके पिता ने पत्र के उत्तर में बड़ी चिन्ता प्रकट करके लिखा कि वह घर नहीं आया और उसकी खोज बहुत जल्दी की जानी चाहिए। हैरान होकर रामदीन ने यह कुसंवाद घर को भेजा।

असह्य दुःख, शोक और चिन्ता के भार से गोदावरी यथा-साध्य अपनी रक्षा करने की चेष्टा करने लगी। पर अब उसके भीतर आत्म-रक्षा की शक्ति का अभाव-सा जान पड़ा। विस्मृत रोग फिर जागता हुआ मालूम पड़ा। स्नायविक दुर्बलता बढ़ने लगी। ऐसा जान पड़ने लगा, जैसे उसके सारे शरीर में किसी जड़ता उत्पन्न करनेवाले नशीले पदार्थ के इञ्जेक्शन दिये गये हों। अब भी वह अच्छी तरह से खाती थी, पीती थी, पुस्तक पाठ करती थी, व्रत रखती थी। पर हर घड़ी लेटे रहने की इच्छा होती थी, और दुर्बल कल्पनाओं में डूबे रहने को जी चाहता था। अपनी अज्ञात इच्छाशक्ति द्वारा वह शारीरिक दुर्बलता को दूर करने की लाख चेष्टा करती थी, पर असमर्थता के कारण असफल होती थी।

इस अभागिनी लड़की के भाग्य के उलटे-सीधे चक्र देखकर निरतिशय दुःख के कारण प्रेमा से कुछ कहते नहीं बनता था। वह अलग बैठकर अपना मुँह छिपाकर रोतीं। पर कभी-कभी उनका हृदय अत्यन्त कठोर बन जाता था, और वह लड़की को सुनाकर कहतीं—"सब के प्राण खानेवाली यह अभागिन मेरी कोख में पैदा क्यों हुई! हुई तो अब मरती क्यों नहीं?"

जले में नोन छिड़कनेवाली उनकी ये सब बातें सुनकर गोदावरी लज्जा से गड़ी जाती थी, और अपनी मृत्यु की कल्पना करने लगती। पर कल्पना करते ही एक प्रलयङ्कर विभीषिका से आतङ्कित होकर काँप उठती और झट दूसरी बातों से मन बहलाने की चेष्टा करती। मौत चाहने पर भी वह मौत से बहुत डरती थी।

पर मौत से अधिक भयभीत वह अम्मा की जली-कटी बातों से हो गई थी। भूत की तरह उनकी बातों की कठोरता प्रतिक्षण उसका गला दबाये रहती। रात को स्वप्न में भी वह कभी-कभी देखती कि उसकी अम्मा एक विकट रूप धारण करके उसके पास आ रही हैं, और उसे

समूचा निगल डालना चाहती हैं । नींद टूटने पर वह थरथराकर चारपाई पर उठ बैठती ।

एक दिन प्रेमा की इसी प्रकार की एक निष्ठुरतापूर्ण कड़वी बात का उत्तर दिये बिना वह न रह सकी । दोनों मा-बेटी में बड़ी देर तक तक़रार होती रही । अन्त को परास्त होकर गोदावरी ने रोते-रोते गुस्से से भरी आवाज़ में कहा—"आज से तुम मेरी अम्मा नहीं रहीं, मैं भी तुम्हारी बेटी नहीं रही ।"

इसके बाद तीन दिन तक दोनों में बोलचाल बन्द रहा । चौथे दिन गङ्गादीन किसी विशेष कारण से काशी जाने की तैयारी करने लगे । गोदावरी ने उनके पाँव पकड़कर अत्यन्त व्याकुलता के साथ मिन्नतें करके कहा—"काका, मुझे भी लेते चलो ! तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ ।"

गङ्गादीन बोले—"यह क्या बेटी, तुम्हारी तबियत ख़राब है, गाड़ी के धुएँ और धक्कों से ज्यादा बीमार पड़ जाओगी !"

उसने बच्चों की तरह अत्यन्त मधुर करुणा के स्वर में ज़िद करके कहा—"नहीं, काका, मैं नहीं मानूँगी ! छोटे चचा और छोटी चची को मैंने बहुत दिनों से नहीं देखा है । मुझे ले चलो, नहीं तो मैं तुम्हें नहीं जाने दूँगी ।"

उसके हृदय में यह क्षीण आशा भी वर्तमान थी कि बनारस में रहकर शायद कभी पति के दर्शन भी हो जायँ ।

गङ्गादीन जानते थे कि उसके हठ का विरोध करना वृथा है । लाचार होकर उन्हें राज़ी होना पड़ा । चचा और चची को प्रणाम कर, श्याम और सुभद्रा को प्यार करके वह विदा हुई । अम्मा से मिली तक नहीं ।

* * *

गङ्गादीन ने यथार्थ कहा था । बनारस पहुँचते ही गोदावरी की अवस्था कुछ खराब हो गई । पर विशेष नहीं । दो तीन दिन वहाँ रहकर,

काम से निबटकर वह चलने लगे। गोदावरी ने वहीं रहने की इच्छा प्रकट की। इस कारण वह अकेले ही लौट चले। पर जिस दिन वह गये, उसके दूसरे दिन से ही गोदावरी का स्वास्थ्य अधिकाधिक बिगड़ने लगा। दिल में धड़कन, पेट में दर्द, नाड़ियों में ज्वर और शरीर में दुर्बलता और वेदना मालूम देने लगी। उसे काका की बात याद आई और अपनी भूल पर पछताने लगी। उसे डर हुआ कि कहीं सचमुच इस बीमारी से मर न बैठे।

वह सोचने लगी—"अच्छा, अगर मैं मर गई तो अम्मा क्या सोचेगी? खूब रोयगी! अच्छा होगा! क्यों वह मुझे रात-दिन जली-कटी बातें सुनाती है? क्यों मुझे मरने को कहती है? क्यों मुझे तङ्ग करती है? मैंने उसका क्या बिगाड़ा है? अपने दुःखों को लेकर रहती हूँ, किसी से कुछ नहीं कहती, उससे किसी बात के लिए नहीं झगड़ती, फिर भी वह क्यों मेरे पीछे पड़ी रहती है? मैं मर जाऊँगी तो वह किसे गालियाँ सुनाती है, ज़रा देख तो लूँगी!"

कुछ देर के बाद फिर सोचने लगी—"अच्छा; मैं मर जाऊँगी तो मुझे कैसे मालूम होगा कि वह क्या करेगी? मरने के बाद मेरा सब होश जाता रहेगा, मेरी आँखें बन्द हो जायँगी, फिर मैं कभी उठकर बैठ नहीं सकूँगी। क्या होगा? कहाँ जाऊँगी? फिर मैं खाना नहीं खा सकूँगी, हँस नहीं सकूँगी, रो नहीं सकूँगी, बोल नहीं सकूँगी, कुछ सोच नहीं सकूँगी, किताब नहीं पढ़ सकूँगी। क्या करूँगी? मुझे सब लोग उठाकर चिता के ऊपर रखेंगे और जलायेंगे। पाँव से सिर तक मेरा सारा बदन उतनी बड़ी आग से जलेगा। अरे बाप रे! नहीं, नहीं, मैं नहीं मरना चाहती।"

उसके कपाल की हड्डी में, छाती की पसलियों में दर्द बढ़ने लगा और उसे ऐसा मालूम होने लगा, जैसे मौत ने उसका गला दबाया है और अब वह मरना ही चाहती है। भय और यातना से वह छटपटाने लगी और तीक्ष्ण, हृदयविदारक स्वर में कराहने लगी। कमला वहीं

पर बैठी थीं। उन्होंने रोते हुए पूछा—"क्या बहुत दर्द हो रहा है, बेटी ?"

गोदावरी उसी तरह कराहती हुई बोली—"मुझे भूख लगी है, कुछ खाने को दो।"

उसके पेट की हालत बहुत ख़राब थी। डाक्टर ने खाने की सख़्त मुमानियत कर रखी थी, और जहाँ तक बन पड़े, दूध भी कम पिलाने की हिदायत दी गई थी। पर गोदावरी की इच्छा के अनुसार कमला ने स्नेहवश काफ़ी से ज्यादा दूध पिला दिया था। किन्तु दूध से उसको तृप्ति नहीं होती थी, यह खाने की कोई चीज़—ख़ासकर ननकीन—माँगती थी।

कमला ने पूछा—"दूध लाऊँ बेटी ?"

वह कुछ झुँझलाकर पेट को हाथ से मलती हुई बोली—"नहीं चची, कुछ खाने को दो। खाने के बिना मैं मरती हूँ।"

कमला की समझ में न आया कि पेट में मरोड़े उठने पर भी कैसे इतनी भूख उसे लगी है।

डाक्टर ने आकर नब्ज देखकर सारे शरीर की परीक्षा की और कहा—"पेट फूलने लगा है, इस हालत में अब दूध भी नहीं दिया जाना चाहिए।"

रामदीन के साथ कुछ देर तक अँगरेज़ी में बातें करके, दवा का प्रेसक्रिपशन बदलकर डाक्टर साहब चल दिये।

दूसरे दिन दर्द बहुत बढ़ गया। हड्डियों की गाँठों में, सिर में, छाती में और ख़ासकर पेट में बड़ी वेदना होने लगी। वह प्रबल वेग से छटपटाने लगी और उसे अपने तन-बदन की सुध नहीं रही। कमला बार-बार उसका शरीर कपड़े से ढकती जाती थीं। वह उन्मत्तों की तरह चिल्ला-चिल्लाकर कहने लगी—"चची, मैं मरती हूँ, किसी तरह से मुझे बचाओ ! मुझे बचाओ चची, मुझे बचाओ ! किसी अच्छे डाक्टर को बुलाओ, चाहे वैद्य को बुलाओ ! मुझे बचाओ ! मुझे बचाओ !"

उसकी आँखें जैसे बाहर को निकली पड़ती थीं। दुःख और भय से कमला बेबस फूट-फूटकर रोने लगी।

सदा के लिए समस्त वेदनाओं की पूरी शान्ति होने के कुछ ही देर पहले तक वह चिल्लाती रही—"मुझे बचाओ चची, मैं मरती हूँ, मुझे बचाओ।"

उसे श्मशान ले जाने के बाद जब कमला रोते-रोते थक गई तो लेटकर कुछ सोचने की चेष्टा करने लगीं। पर उनके कानों में केवल ये मर्मान्तक शब्द गूँज रहे थे—"मुझे बचाओ! चची मुझे बचाओ"

जारज

रामप्रसाद के जन्म का इतिहास दीर्घकाल तक पास-पड़ोस के प्रायः सभी लोगों के लिए रहस्यमय रहा। वह स्वयं वर्षों तक इस सम्बन्ध में वास्तविकता से अपरिचित रहा। उसकी माता रामकली बहुत छोटी अवस्था में विधवा हो गई थीं। विधवा होने पर गो-ब्राह्मण की सेवा, व्रत, पूजा आदि में उनका समय बीतने लगा। वह अत्यन्त नियम तथा संयम-पूर्वक रहा करती थीं और नित्य तुलसीकृत रामायण, सूरसागर तथा गीता का पाठ किया करती थीं। दो वर्ष तक उनका धार्मिक जीवन अत्यन्त कठोर साधना के साथ व्यतीत हुआ। इसके बाद गाँव में अचानक एक साधु महात्मा का आविर्भाव हुआ। साधु बाबा का स्वास्थ्य सुन्दर, शरीर सुपुष्ट, शील-स्वभाव मनोहर, पारमार्थिक ज्ञान अस्पष्ट, किन्तु सांसारिक ज्ञान स्पष्ट था। गाँव के सीमाप्रांत में, नदी के किनारे अपने लिए एक झोपड़ा निर्माण करके, धूनी रमाकर उन्होंने अच्छा-ख़ासा आश्रम-सा प्रतिष्ठित कर लिया था। गाँव की स्त्रियाँ किसी भी पुण्य-पर्व के अवसर पर उनके 'आश्रम' में भीड़ लगा देती थीं और बाबाजी की चरण-धूलि मस्तक पर धारण करके अपने को कृतार्थ समझकर चली जाती थीं। प्रारम्भ में साधारण अवसरों पर भी बाबाजी के यहाँ दर्शनार्थियों की भीड़ कुछ कम नहीं रहती थी। पर धीरे-धीरे लोगों का कौतूहल उनके सम्बन्ध में घटने लगा और उनके अनुरक्त भक्तों की संख्या घटते-घटते दो-चार तक ही सीमित रह गई। इन दो-चारों में रामकली का स्थान अग्रगण्य था।

रामकली को बाबाजी की सेवा में एक अपूर्व तथा अलौकिक हर्ष का अनुभव प्राप्त होने लगा था। घर के ज़रूरी कामों को छोड़कर भी

उसकी आँखें जैसे बाहर को निकली पड़ती थीं। दुःख और भय से कमला बेबस फूट-फूटकर रोने लगी।

सदा के लिए समस्त वेदनाओं की पूरी शान्ति होने के कुछ ही देर पहले तक वह चिल्लाती रही—"मुझे बचाओ चची, मैं मरती हूँ, मुझे बचाओ।"

उसे श्मशान ले जाने के बाद जब कमला रोते-रोते थक गई तो लेटकर कुछ सोचने की चेष्टा करने लगीं। पर उनके कानों में केवल ये मर्मान्तक शब्द गूँज रहे थे—"मुझे बचाओ! चची मुझे बचाओ"

जारज

रामप्रसाद के जन्म का इतिहास दीर्घकाल तक पास-पड़ोस के प्रायः सभी लोगों के लिए रहस्यमय रहा। वह स्वयं वर्षों तक इस सम्बन्ध में वास्तविकता से अपरिचित रहा। उसकी माता रामकली बहुत छोटी अवस्था में विधवा हो गई थीं। विधवा होने पर गो-ब्राह्मण की सेवा, व्रत, पूजा आदि में उनका समय बीतने लगा। वह अत्यन्त नियम तथा संयम-पूर्वक रहा करती थीं और नित्य तुलसीकृत रामायण, सूरसागर तथा गीता का पाठ किया करती थीं। दो वर्ष तक उनका धार्मिक जीवन अत्यन्त कठोर साधना के साथ व्यतीत हुआ। इसके बाद गाँव में अचानक एक साधु महात्मा का आविर्भाव हुआ। साधु बाबा का स्वास्थ्य सुन्दर, शरीर सुपुष्ट, शील-स्वभाव मनोहर, पारमार्थिक ज्ञान अस्पष्ट, किन्तु सांसारिक ज्ञान स्पष्ट था। गाँव के सीमाप्रांत में, नदी के किनारे अपने लिए एक झोपड़ा निर्माण करके, धूनी रमाकर उन्होंने अच्छा-ख़ासा आश्रम-सा प्रतिष्ठित कर लिया था। गाँव की स्त्रियाँ किसी भी पुण्य-पर्व के अवसर पर उनके 'आश्रम' में भीड़ लगा देती थीं और बाबाजी की चरण-धूलि मस्तक पर धारण करके अपने को कृतार्थ समझकर चली जाती थीं। प्रारम्भ में साधारण अवसरों पर भी बाबाजी के यहाँ दर्शनार्थियों की भीड़ कुछ कम नहीं रहती थी। पर धीरे-धीरे लोगों का कौतूहल उनके सम्बन्ध में घटने लगा और उनके अनुरक्त भक्तों की संख्या घटते-घटते दो-चार तक ही सीमित रह गई। इन दो-चारों में रामकली का स्थान अग्रगण्य था।

रामकली को बाबाजी की सेवा में एक अपूर्व तथा अलौकिक हर्ष का अनुभव प्राप्त होने लगा था। घर के ज़रूरी कामों को छोड़कर भी

वह बाबाजी की सेवा के लिए समय निकाल लेती थीं। उनके सौभाग्य से विधवा होने के बाद भी अन्न-वस्त्र के प्रश्न ने उनके आगे विकट रूप धारण नहीं किया था। पति की पैतृक सम्पत्ति का बटवारा होने पर उन्हें जो भाग मिला, उससे वह अपने लिए नोन, तेल और लकड़ी का प्रबन्ध भली भाँति कर सकती थीं। इस कारण बाबा के दर्शनों के लिए उन्हें पर्याप्त समय मिल जाता था। उनकी ससुरालवालों को उनकी यह अत्यधिक साधु-भक्ति बिलकुल पसन्द न थी। पर रामकली किसी की परवा करनेवाली स्त्री न थीं। ससुरालवाले जब परोक्ष रूप से अपनी नापसन्दगी ज़ाहिर करते तो वह ऐसे कटु शब्दों में अपना वक्तव्य सुनातीं कि उन लोगों को हार मानकर चुप रह जाना पड़ता था।

एक दिन अकस्मात् रामकली साधु बाबा के साथ ग़ायब हो गईं। ससुरालवालों को यद्यपि रामकली की धार्मिक निष्ठा की सहृदयता के सम्बन्ध में यथेष्ट सन्देह था, पर इस हद तक उनकी कल्पना कभी स्वप्न में भी नहीं दौड़ी थी कि लोक-लाज तथा कुल-कानि को इस नग्न धृष्टता से तिलांजलि देकर वह अपने सम्बन्धियों के मुखों में कालिख पोतकर बाबा के साथ भागकर चली जायँगी। तब से रामकली ने उस गाँव में कभी पाँव न रक्खा।

साधु बाबा रामकली को लेकर एक अज्ञात स्थान में चले गये। वहीं रामप्रसाद का जन्म हुआ। उसके जन्म के साल भर बाद साधु बाबा मेरठ के पास एक कस्बे में आकर रहने लगे। तब से बाबा पक्के गृहस्थ बन गये। पर गेरुआ वस्त्र धारण किये रहे। अन्तर केवल यही था कि अब वह साधारण योगी न रहकर पक्के कर्मयोगी बन गये थे और संन्यास-धर्म के बदले गीता के अनासक्ति योग का प्रचार लोगों में करने लगे। वह कहा करते थे कि सच्चा योगी वही है, जो संसार के स्वाभाविक कर्मों से मुँह न मोड़कर निःसंग रूप से सहस्र सांसारिक बंधनों के बीच में रहकर बन्धनहीन जीवन बिताता चला जाय। फल यह हुआ कि उनके चेले-चाटियों की सख्या इस नई स्थिति में भी कुछ

कम न रही। उन्होंने स्पष्ट रूप से यह बात किसी को न बताई कि रामकली के साथ उनका क्या सम्बन्ध है और रामप्रसाद के जन्म का रहस्य क्या है, तथापि संसार के नाना चक्रों के सम्बन्ध में अनुभव-प्राप्त विज्ञजनों से वास्तविकता छिपी न रही।

रामप्रसाद का शारीरिक गठन अपनी माता के ही अनुरूप क्षीण तथा दुर्बल था। छुटपन में वह रोता-झीखता बहुत था और अक्सर बीमार रहा करता था। जब वह कुछ बड़ा हुआ तो उसका स्वास्थ्य यद्यपि वैसा ही असन्तोषजनक बना रहा, तथापि उसके स्वभाव में कुछ स्थिरता आ गई। जब वह अक्षर पहचानने लगा और थोड़ा-बहुत पढ़ना-लिखना सीख गया तो रामकली उसे रामायण पढ़ाने लगीं। बाबा उसे "हे हे यशोदे तव बालकोऽसौ मुरारिनामा वसुदेव-सूनुः" आदि श्लोक रटाने लगे। रामप्रसाद बड़े चाव से पढ़ने और रटने लगा। इस प्रकार धार्मिक विषयों की ओर उसकी रुचि बचपन से ही प्रबल हो उठी। बाबा ने उसके लिए एक पंडित नियुक्त कर दिया, जो उसे अपनी योग्यता के अनुसार हिन्दी तथा संस्कृत सिखाने लगे। धीरे-धीरे जब वह रामायण को बिना किसी कि सहायता के स्वयं पढ़ने में समर्थ हो गया तो वह बाक़ायदा उसका अध्ययन करने लगा और बाबा तुलसीदास की धार्मिक तथा नैतिक सूक्तियों का भावार्थ अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार लगाकर अपने जीवन का आदर्श स्वयं प्रतिष्ठित करने की चेष्टा करने लगा। वह भावुक था, उसकी स्मरण-शक्ति भी अच्छी थी और अपनी रुचि के विषय में पूर्ण मनोयोग देना भी वह जानता था। फल यह हुआ कि सोलह वर्ष की उम्र में वह परम नीतिनिष्ठ, पक्का आदर्शवादी तथा कट्टर धार्मिक बन गया।

स्त्री-जाति से वह बचपन से ही बहुत डरता था। उसने अपने दुष्ट चरित्र साथियों से स्त्री-पुरुषों की घनिष्ठता के भयंकर परिणामों के सम्बन्ध में स्पष्ट तथा अस्पष्ट रूप से कितनी ही रोमांचकारी बातें सुन रक्खी थीं। पता नहीं, छोटी उम्र में ही उसके बचपन के साथी कैसे

ऐसी आतंकोत्पादक बातों से परिचित हो गये थे। उनकी बातें रामप्रसाद को भूतों की कहानियों की तरह लोमहर्षक और भयावनी लगती थीं और साथ ही वैसी ही रोचक भी। अपनी धार्मिक तथा नीतिनिष्ठ प्रकृति के कारण इस प्रकार की बातों से उसका मन घृणा से भर जाता था, पर उसकी भावुक प्रकृति में विकृति का जो कीड़ा अज्ञात रूप से वर्तमान था, वह इस प्रकार के घृणित विषयों की चर्चा के पंकिल रस में निमज्जित होने के लिए चंजल हो उठता था, पर वह अपनी इस चंचलता को कभी किसी पर प्रकट न होने देता और अपनी अन्तर प्रकृति के किसी अज्ञात कोने में छिपे हुए घुन को अज्ञात ही रहने देना चाहता था, यद्यपि वह घुन उसकी आत्मा के सार को भीतर-ही-भीतर चाटता जाता था।

ज्यों-ज्यों वह घुन उसे अलक्ष्य में निःशक्त करता जाता था, त्यों-त्यों उसकी नैष्ठिक प्रकृति स्त्री-जाति के प्रति उसके मन में घृणा के भाव को उग्र से उग्रतर बनाती जाती थी। बाबा के पास जो स्त्रियाँ भक्तिभाव से आया करती थीं, उनमें से कुछ इस लज्जाशील किशोर कुमार के मुख में अभिव्यक्त यौवनाभास से आकर्षित होकर उसकी पीठ पर हाथ फेरकर उससे स्नेह की दो-दो बातें कर जातीं। उनके स्नेहालाप तथा मोह-स्पर्श से रामप्रसाद का सारा शरीर कण्टकित हो उठता था और एक विचित्र तिक्त-मधुरस्वाद से उसकी आत्मा की जिह्वा जर्जरित हो उठती थी। इस स्वाद को बदलने के लिए आध्यात्मिक रस का स्वाद लेना उसके लिए अत्यन्त आवश्यक हो जाता और वह इस विषय की पुस्तकों के अध्ययन द्वारा इस रस की ओर अधिकाधिक झुकता चला जाता था। रामप्रसाद के स थियों ने उसका नाम भोंदू रख दिया था। और वे बात-बात में उसे बनाते और उसकी खिल्ली उड़ाते। उसके साथियों में केवल एक ही व्यक्ति ऐसा था, जिसके साथ वह आन्तरिक घनिष्ठता का सम्बन्ध स्थापित कर पाया था। इस लड़के का नाम था काशीप्रसाद। काशीप्रसाद के पिता कथावाचक भी थे और ज्योतिषी भी। हरिद्वार में ऋषिकुल में उन्होंने शिक्षा पाई थी, पर उनकी बनती अधिक थी गुरुकुल

के छात्रों से। कथावाचक और ज्योतिषी तो वह उदरनिमित्त बने थे, पर वास्तव में उनकी महात्त्वाकांक्षा कुछ दूसरी ही थी, जो उनकी आर्थिक तथा सामाजिक परिस्थितियों के कारण सफल नहीं हो पाई। उनके विचार उग्र सुधारपंथी थे। वह अपने छात्र-जीवन में जात-पाँत-तोड़क, मूर्ति-मुण्ड-फोड़क और धर्म-गति-मोड़क बनने का स्वप्न देखा करते थे, पर ऐसे सांसारिक फेर में पड़ गये कि कुछ बन न पाये। फिर भी उनके विचारों में कोई अन्तर न आया, यद्यपि वह पूर्णतः एक कट्टर सनातनी का जीवन व्यतीत करते थे।

काशीप्रसाद योग्य पिता का योग्य पुत्र था। आचार में वह कट्टर सनातनी, पर विचार में पक्का आर्यसमाजी। रामप्रसाद के साथ उसके बहुत-से विचारों में मतभेद रहता था। वह तुलसीदास की रामायण को पोप-पंथियों की पोथी बताया करता था और हृदय की भावुकता की अपेक्षा बुद्धि की विचक्षणता को अधिक स्थान देता था। दोनों की प्रकृतियों में इस प्रकार मूलगत अन्तर होने पर भी न जाने किस रहस्यमय अज्ञात बन्धन से दोनों में घनिष्ठता का बन्धन ऐसा दृढ़ हो गया था कि देखकर आश्चर्य होना स्वाभाविक था।

काशीप्रसाद के संसर्ग में आकर रामप्रसाद को हिन्दी में प्रकाशित विभिन्न विषयों की पुस्तकों को पढ़ने का चस्का लग गया और धीरे-धीरे उसके मन में लेखक तथा वक्ता बनने की इच्छा उत्पन्न होने लगी, यहाँ तक कि वह कविता भी करने लगा। काशीप्रसाद उसके इस गुण से और अधिक मुग्ध हो गया। रामप्रसाद ने धार्मिक, नैतिक तथा साहित्यिक विषयों पर लेख लिखने शुरू कर दिये और २२-२३ वर्ष की उम्र में ही उसने हिन्दी-जगत् में अच्छा नाम पैदा कर लिया। उसका ज्ञान एकदम अपरिपक्व होने पर भी उसकी भावुकता में एक ऐसी सहृदयता थी, जिसका प्रभाव पाठकों पर पड़े बिना रह नहीं सकता था।

हिन्दी-जगत् में अपनी थोड़ी-बहुत धाक जमते देखकर रामप्रसाद अपनी महत्ता के गर्व से फूला न समाने लगा। पर इस बीच एक ऐसी

घटना घट गई, जिसने उसके हृदय पर भयंकर रूप से आघात किया। उसकी माँ अकस्मात् किसी घातक रोग से चार-पाँच दिन तक पीड़ित रहकर इस लोक से चल बसीं। माता के शोक से बहुत दिनों तक विह्वल रहकर जब वह कुछ शान्त हुआ तो बाबा ने एक दिन उसे बुलाकर उसके जन्म का सच्चा इतिहास कह सुनाया। रामप्रसाद को जब यह मालूम हुआ कि वह जारज है तो उसे वर्णनातीत रूप से धक्का पहुँचा। माता की जीवितावस्था में यह धक्का और अधिक उग्र रूप से आता, पर माता की मृतावस्था में उसका प्रभाव इतना ज़बर्दस्त न रहा। फिर भी उससे रामप्रसाद की विचार-धारा बहुत बदल गई और उसके आदर्शवाद का रूप ही कुछ दूसरा हो गया।

दो वर्ष बाद बाबा की भी मृत्यु हो गई और रामप्रसाद का इस संसार में अपना कहने को कहीं कोई जीवित न रहा। अपने अकेलेपन की अनुभूति पहले रामप्रसाद को अनन्तव्यापी शून्य के विकराल जबड़ों की तरह उसे निगलने के लिए उद्यत-सी जान पड़ने लगी। वह कहीं एकान्त में बैठकर 'मा-मा!' कहकर बच्चों की तरह जी भरकर रोया करता। अपनी दुःखिनी, कुलकलंकिनी माता के निःस्वार्थ और ऐकान्तिक स्नेह का ख़्याल करके उसके प्रति जैसा प्रेम-भाव उसके हृदय में अब उमड़ने लगा, वैसा पहले कभी उसने अनुभव नहीं किया था। धीरे-धीरे उसके किसी अज्ञात संस्कार ने उसे सँभलने के लिए सामर्थ्य तथा प्रेरणा दी। वह मेरठ चला गया और वहाँ एक पुस्तक-विक्रेता की दूकान में 'सेल्समैन' बन गया, और साथ ही पत्र-पत्रिकाओं में लेख तथा कविताएँ छपाता चला गया। लेखों से उसे तीन-चार महीने के भीतर दस-पाँच रुपये मिल जाते थे। उसके मन में यह संस्कार जमा हुआ था कि लेखक होने के नाते वह संसार के सब व्यक्तियों के सम्मान का पात्र है। पर वास्तविक जीवन का अनुभव होने पर वह देख रहा था कि अधिकांश लोग उसके प्रति अवज्ञा का भाव प्रदर्शित करते हैं। जब से उसे मालूम हुआ कि वह जारज है, तब से उसे अपने

प्रति लोगों की अवज्ञा तथा घृणा के भाव स्पष्ट दिखाई देते हुए-से जान पड़ते थे। अब जो कोई भी व्यक्ति उससे बातें करता, अथवा जिस किसी की दृष्टि उस पर पड़ती, उससे अत्यन्त शंकित होकर वह मन में यह कल्पना करने लगता कि उसे उसके जारज होने की बात का पता लग गया है। जिस दूकान में वह काम करता था, उसके मालिक अक्सर उसे डाँटा करते और बात-बात में उसकी त्रुटियाँ दिखाते रहते थे। ऐसे अवसरों पर वह मन-ही-मन इस प्रकार का जवाब देने का विचार करता—"आपको जानना चाहिए कि मैं एक साधारण 'सेल्समैन' नहीं, बल्कि एक लेखक हूँ। मुझे डाँट बताने का कोई अधिकार आपको नहीं है। आपको शायद मालूम हो गया है कि मैं जारज हूँ, पर मैं जारज होना कोई लज्जा की बात नहीं समझता। कर्ण से लेकर कबीर जैसे महात्मा तक जारज रहे, पर इस बात से उन लोगों की प्रतिभा का महत्व बिलकुल नष्ट नहीं हुआ।" इससे भी लम्बा-चौड़ा उत्तर वह मन-ही-मन तैयार कर लेता था, पर स्वभाव का वह इतना दुर्बल था कि मालिक की किसी भी अन्यायपूर्ण उक्ति के विरोध में उसने कभी एक शब्द मुँह से न निकाला।

एक बार काशीप्रसाद के पिता के पास उनके किसी आर्यसमाजी मित्र का पत्र आया, जिसमें उन्होंने अपनी लड़की के योग्य वर ढूँढ़ने के लिए लिखा था। काशीप्रसाद के पिता को न मालूम क्यों, तत्काल रामप्रसाद की याद आई। उन्होंने चट एक कार्ड रामप्रसाद को भेजा और दो-चार पंक्तियों में उसे जीवन में विवाह का क्या महत्त्व है, यह बात समझाते हुए लिखा कि कन्या अत्यन्त सुन्दरी तथा शिक्षिता है। इस पत्र से रामप्रसाद के मस्तिष्क में भयंकर आलोड़न-विलोड़न मचने लगा। उसकी अवस्था उस समय २६-३० के क़रीब हो चुकी थी। अपने जीवन में वह स्त्रियों के साथ कभी किसी सूत्र से घनिष्ठ सम्पर्क में नहीं आ पाया था। इतने वर्षों तक विवाह न होने से वह स्त्रियों से अपनी आत्मा के दूरत्व को स्वाभाविक समझने लगा था। काशीप्रसाद

के पिता का पत्र पाते ही वह समझ गया कि इतने वर्षों तक उसका जीवन अत्यन्त अस्वाभाविकता में बीता है। उसकी अतलव्यापी सुप्त भावनाएँ तलमलाने लगीं और विवाह के लिए उसका चित्त अत्यन्त उत्सुक हो उठा। पर अपनी आर्थिक तथा सामाजिक स्थिति को देखते हुए वह समझ गया कि उसके जीवन में विवाह का प्रश्न उत्पन्न होना भी अस्वाभाविक ही है। उसने काशीप्रसाद के पिता को अपनी आर्थिक स्थिति का उल्लेख करते हुए लिखा कि उसे विवाह का उपदेश देना उसका परिहास करना है। प्रायः दस दिन बाद काशीप्रसाद के पिता का पत्र फिर आया कि कन्यापक्षीय आर्थिक पहलू को महत्त्वपूर्ण नहीं समझते। वे सम्पन्न हैं। उन्हें केवल एक गुणवान् वर की आवश्यकता है। दहेज़ भी वे यथेष्ट देने को राज़ी हैं।

इस उत्तर से रामप्रसाद की छाती पर से एक बड़ा भारी पत्थर हटा। अब वह विशेष उत्साहपूर्वक अपने विवाह के प्रश्न पर गम्भीर रूप से विचार करने लगा। अपने गुणवान् होने के विषय में उसे तनिक भी संदेह नहीं था। पर उसके भावुक हृदय में दुर्बल सत्य का जो अंश छिपा हुआ था, वह भविष्य की अज्ञात आशंका के कारण जाग पड़ा। उसने देखा कि उसका स्वास्थ्य विशेष अच्छा नहीं है! विवाह होने पर उसकी पत्नी को यदि किसी बात का धोखा मिला तो वह ठीक न होगा। इसलिए उसने काशीप्रसाद को इस सम्बन्ध में सूचना देते हुए लिख दिया कि यदि इस बात को ध्यान में रखते हुए भी कन्या के पिता को उसके साथ अपनी लड़की का विवाह करने में कोई आपत्ति न हो तो उसे भी कोई आपत्ति नहीं है।

कन्या के पिता को इस बात की सूचना यथासमय काशीप्रसाद के पिता द्वारा मिली और तत्काल उन्होंने एक पत्र सीधे रामप्रसाद को लिखा। उसमें उन्होंने अपना यह मत प्रकट किया कि रामप्रसाद के जिन अपूर्व गुणों की सूचना उन्हें मिली है, उन्हें ध्यान में रखते हुए वह अन्य किसी बात को विशेष महत्त्व नहीं देना चाहते और अपनी लड़की

का विवाह शीघ्रातिशीघ्र उसके साथ करने के लिए उत्सुक हैं। वर बिना देखे और उसके सम्बन्ध में कोई विशेष परिचय प्राप्त किये बिना ही कन्यापक्षवालों की यह शीघ्रता रामप्रसाद जैसे कल्पनालोक में विचरनेवाले जीव को भी कुछ अस्वाभाविक-सी मालूम हुई। उसके मन में यह सन्देह हुआ कि लड़की देखने में अत्यधिक कुरूपा होगी, इसीलिए वह उसके मत्थे मढ़ी जा रही है। उसने साहस करके लड़की का फोटो मँगाया। यथासमय फोटो पहुँचा, जिसे देखकर उसके हर्ष का पारावार न रहा। ऐसी सुन्दर, स्वस्थ तथा सुगठित अंगोंवाली स्त्री उसने अपने जीवन में पहले कभी नहीं देखी थी। उसके अंग-अंग में नव-यौवन की उमंग तरंगित हो रही थी। उसकी वेश-भूषा से सुरुचि तथा शालीनता का परिचय प्राप्त होता था। उसे देखकर उसके मन में यह आशंका फिर नये सिरे से जागरित होने लगी कि उसका शरीर, स्वास्थ्य तथा सांसारिक परिस्थितियाँ इस अनुपम सुन्दरी, शिक्षिता और सम्पन्न कुलवाली ललना के योग्य नहीं है। वह बहुत हिचकिचाया, पर अन्त में उसका लोभी मन नहीं माना और वह राज़ी हो गया।

यथासमय आर्य-पद्धति तथा वैदिक नियमों के अनुसार शुभ विवाह सम्पन्न हुआ। विवाह होने के कुछ ही दिन बाद रामप्रसाद के कानों तक इस अफ़वाह की भनक गई कि जिस शिक्षिता सुन्दरी से उसका विवाह हुआ है, उसका सम्बन्ध पहले किसी अन्य पुरुष से रह चुका है। केवल सम्बन्ध ही नहीं, उससे उसको गर्भ भी रह चुका है, जिसके फलस्वरूप उसने गुप्त रूप से अस्पताल में पुत्र-प्रसव किया है और बच्चा अनाथालय के सुपुर्द कर दिया गया है। इस समाचार से रामप्रसाद अत्यन्त आतंकित हुआ, पर पत्नी का स्वास्थ्य, सौंदर्य और मस्ती देखकर वह ऐसा मुग्ध हो गया था कि उसके प्रति उसके मन में किसी भी कारण से घृणा का भाव उत्पन्न होना असम्भव-सा जान पड़ा। विवाह के पहले उसके बाह्य चेतन में स्त्री-जाति के प्रति घृणा का जो भाव वर्तमान था, विवाह के बाद

अधिक क्रुद्ध कर देती थी। रामप्रसाद मौक़े-बेमौक़े उसका अंग-स्पर्श करने के लिए लालायित हो उठता, पर मोहिनी उसे दुतकार देती और भरसक उसे कभी किसी समय अपने पास फटकने न देती। वह ऊँची एड़ी के जूते पहना करती थी। रामप्रसाद कभी-कभी अवसर देखकर उसके जूते उतारने के बहाने उसका चरण-स्पर्श करके अपने को धन्य समझता था। उस समय उसके सारे शरीर में ऐसा रोमांच हो आता कि वह काशी-प्रसाद के पिता को मन-ही-मन अपने विवाह के लिए धन्यवाद देता। मोहिनी उससे किसी समय कुछ प्रसन्न रहती तो सिर्फ़ जूते उतारने के समय।

एक बार रामप्रसाद ने मोहिनी का रुख़ कुछ अच्छा देखकर कवित्त-छन्द में रची हुई अपनी एक करुणरसात्मक कविता उसे सुनाई। सुनकर मोहनी मारे हँसी के लोट-पोट हो गई। जब स्थिर हुई तो बोली—'वाह रे भाँड़! यदि रईसों की महफ़िलों में जाते तो सेल्समैनी से अच्छा ही कमाके लाते।" इस अपमान को भी रामप्रसाद हँसकर पी गया।

एक बार शहर में कोई आर्य-समाजी नेता आये हुए थे। किसी सभा में उनकी प्रशंसा में एक ऐसी अच्छी कविता रामप्रसाद ने पढ़ी कि वह अत्यन्त प्रसन्न हो गये। फल यह हुआ कि उनके सदुद्योग से रामप्रसाद देहरादून से प्रकाशित होनेवाले किसी आर्य-समाज से सम्बन्धित पत्र का सम्पादक नियुक्त कर लिया गया। वेतन पचास रुपया प्रतिमास निश्चित हुआ।

मेरठ में मोहिनी का हाल बड़ा बुरा था। वहाँ उसके परिचित बन्धु-बांधवों की संख्या बहुत कम थी। पर देहरादून में उसके पूर्व-परिचित स्त्री-पुरुषों (विशेष करके पुरुषों) का समूह सुविस्तृत था। रामप्रसाद के डेरे में इन पत्नी-परिचित सज्जनों ने अपना अड्डा बना लिया। वह जब अपने सम्पादकीय कार्य से छुट्टी पाकर, वेद-वेदान्त के सम्बन्ध में गुरुगम्भीर तथा सारगर्भित लेख लिखने के बाद थका-माँदा घर आता तो उसे अपनी पत्नी की आज्ञा से उसके मित्रों के लिए चाय बनानी पड़ती और जलपान के लिए बाज़ार से गरमागरम समोसे (यह पक्वान्न उसकी पत्नी को विशेष

रूप से प्रिय था) लाने पड़ते। एक दिन गरम समोसे किसी दूकान में प्राप्त न हुए। मोहिनी ने इस बात पर सब मित्रों के सामने ऐसी फटकार बताई कि बेचारा खीसें निकालकर घोर दुष्कर्म में पकड़े गये अपराधी की तरह दीवार के सहारे दुबककर खड़ा हो गया। चाय जब कभी अच्छी न बनती तो मोहनी 'मूर्ख' और 'गधा' कहकर सबके सामने उसे दुतकार देती। रामप्रसाद रोनी-सी सूरत बनाकर, सिर झुकाकर चुप रहा जाता। पर आश्चर्य की बात यह थी कि पत्नी के इस प्रकार के व्यवहार से उसके प्रबल व्यक्तित्व की तेजस्विता का परिचय पाकर वह उसके प्रति अधिकाधिक आकर्षित होता जाता था।

निहालचन्द नामक एक अपत्नीक पंजाबी डॉक्टर से मोहिनी की विशेष रूप से घनिष्ठता हो गई थी। वह अक्सर उनके यहाँ जाती थी और डॉक्टर साहब भी उससे दिन में दो-तीन बार मिलने आते थे। दो-एक बार वह उनके साथ मसूरी हो आई थी। यात्रा में कोई तीसरा व्यक्ति उन दोनों के साथ नहीं था। पर रामप्रसाद ने इस बात से ईर्ष्यान्वित होने के बदले अपने को गौरवान्वित समझा था; क्योंकि डॉक्टर निहालचन्द काफ़ी नामी थे और देहरादून में उनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। इसके अलावा एक बात और थी। एक बार डॉक्टर निहालचन्द ने एकान्त में रामप्रसाद से मिलकर उसके कम वेतन और अधिक व्यय की चर्चा चलाकर उसके प्रति सहानुभूति प्रकट करते हुए उसके हाथ में सौ-सौ के दो नोट थमा दिये थे। रामप्रसाद कृतज्ञतावश पुलकित और गद्‌गद होकर उनके पैरों पर गिर पड़ा था।

केवल डॉक्टर निहालचन्द ही नहीं, जिन-जिन प्रतिष्ठित व्यक्तियों से मोहिनी की थोड़ी-बहुत भी घनिष्ठता थी, उनसे रामप्रसाद को आर्थिक तथा व्यावहारिक दृष्टि से लाभ ही होता था। अपनी पत्नी के (और फलतः अपने) इन मित्रों की कृपा तथा सलाह के फलस्वरूप उसने एक ख़ासा अच्छा मकान किराये पर ले लिया और उन्हीं सज्जनों की कृपा से बढ़िया-बढ़िया फ़र्नीचर से उसे सजा दिया। अपने लिए उसने

एक खासा अच्छा कमरा चुन कर लिया था, जहाँ बढ़िया आफ़िस-चेयर पर बैठकर काले कपड़े से मढ़े हुए एक टेबिल में ध्यानमग्न अवस्था में झुककर वह पारमार्थिक तथा आध्यात्मिक विषयों पर अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण लेख लिखा करता, जब कि उसकी पत्नी डाक्टर निहालचन्द अथवा पण्डित दीनदयालु शर्मा अथवा सेठ चिम्मनलाल के यहाँ राग-रंग की बातों में व्यस्त रहती थी।

इस प्रकार सारे संसार में अपने को दीन, अनाथ तथा असहाय समझनेवाला रामप्रसाद अब पत्नी की कृपा से अपने को हर तरह से सनाथ, सुसंरक्षित तथा सुखी मानकर परम संतोषमय वैदान्तिक जीवन बिता रहा था। पर जब कभी उसकी अन्तरात्मा उससे सहसा यह प्रश्न कर बैठती कि "मोहिनी को तुम किस दृष्टि से अपनी पत्नी मानते हो?" तो वह कोई भी निश्चित उत्तर देने में समर्थ नहीं था। वैदिक मन्त्रों द्वारा मोहिनी उसकी पत्नी अवश्य घोषित की गई थी, और वह उसके साथ एक ही मकान में रहती भी थी ; पर इसके अतिरिक्त, व्यावहारिक, नैतिक अथवा आध्यात्मिक—किसी भी दृष्टिकोण से मोहिनी ने एक दिन के लिए भी शायद ही उसके साथ पत्नी का सम्बन्ध निबाहा हो। सन्ध्या को जब मोहिनी अपने मित्रों से मिलने चली जाती तो रामप्रसाद उसके परित्यक्त वस्त्रों को हाथ में लेकर उनके स्पर्शानुभव से पुलकित होता था, जिस पलँग पर वह सोती थी उसकी धूल झाड़कर रोमांचित होता, उसके किसी रूमाल में लगी हुई सुगन्धि के घ्राण से मुग्ध होता। इस प्रकार अपने अशक्त प्राणों की अतृप्त आकांक्षा को किसी हद तक चरि-तार्थ करके उसे सन्तुष्ट रहना पड़ता।

एक बार मोहिनी बिना कुछ सूचना दिये ही लगातार तीन दिन तक ग़ायब रही। इसके पहले जब उसे कभी रात को घर नहीं आना होता तो वह रामप्रसाद से कह जाती थी। पर इस बार वह कुछ कह नहीं गई थी। रामप्रसाद बड़ा बेचैन हो उठा। उसने सभी परिचित स्थानों में जाकर पता लगाया, पर कोई फल नहीं हुआ। जब तीसरे

दिन भी मोहिनी नहीं आई तो वह विह्वल होकर बिलख-बिलखकर रोने लगा। रात को ग्यारह बजे के क़रीब किसी ने किवाड़ा खटखटाया। हड़बड़ाकर रामप्रसाद ने दरवाज़ा खोला। हाँ, वह उसी की प्यारी मोहिनी थी। मोहनी बिना एक भी शब्द बोले ऊपर चली गई। उसे देखकर रामप्रसाद की आँखों में बरबस हर्ष के आँसू निकलने लगे। उसकी ओर निदारुण घृणा की दृष्टि से देखकर मोहिनी ने कटु शब्द से कहा—"नादान बच्चों की तरह रुलाई आ रही है! शरम नहीं आती? क्लीव!...मैं कुछ समय के लिए कहीं सुख,शान्ति, स्वतन्त्रता में रहूँ, यह इनसे देखा नहीं जाता। जब से विवाह हुआ तब से मुझे परेशान कर रक्खा है। मेरे सुख के जीवन में तुमसे बड़ा कण्टक और कोई नहीं है, मैं साफ़ बात कहना जानती हूँ। या तो मैं जल्दी मर जाऊँ या तुम। तभी छुटकारा है।"

यह कहकर, वह फनफनाती हुई, अपने पलँग के पास चली गई, और जूते उतारकर, कपड़े बदलकर, सोने की तैयारी करने लगी। रामप्रसाद काठ के पुतले की तरह स्तब्ध खड़ा था, जैसे किसी ने कील ठोंक कर उसके पाँवों को ज़मीन पर जकड़ दिया हो। उसके चारों ओर सारा कमरा चक्कर लगाने लगा। कमरे की सब चीज़ें बड़े वेग से भों-भों शब्द करके घूमती हुई मालूम पड़ रही थीं। मोहिनी की सभी कर्कश बातों में से एक शब्द विशेष करके उसके कानों में गूँज रहा था—"क्लीव!" इस शब्द का प्रयोग मोहिनी पहले भी कई बार उसके लिये कर चुकी थी। उसे स्मरण हो आया कि मोहिनी को नित्य 'लण्डन-रहस्य,' 'अनोखा आशिक' 'काशी का दलाल' आदि और भी इसी कोटि की पुस्तकों को पढ़ते देख-कर एक दिन जब उसने उसकी रुचि बदलने के उद्देश्य से अपने सम्पादकत्व में निकलनेवाले पत्र का कोई अंक उसे देकर, उसमें प्रकाशित लेखों को पढ़ने का सलाह दी थी तो मोहिनी ने लेखों की सूची पढ़ते हुए दो लेख ऐसे देखे, जिनमें लेखक के नाम के स्थान पर रामप्रसाद का नाम छपा था। लेखों के शीर्षक

थे—'वैदिक संस्कृति' और 'हिन्दू-जाति की रक्षा।' मोहिनी ने पत्र को ज़मीन पर पटककर कटु व्यंग के साथ कहा था—"हूँ! 'वैदिक संस्कृति!' 'हिन्दू-जाति की रक्षा!' तुमको तो क्लीव-धर्म पर लेख लिखना चाहिए। वैदिक संस्कृति को क्यों नाहक़ कीचड़ में ढकेलते हो! और जो आदमी अपनी पत्नी की रक्षा करने में असमर्थ है, उसे हिन्दू-जाति की रक्षा की चर्चा करते हुए शर्म आनी चाहिए। पर नपुंसकों को लज्जा से कोई वास्ता हो तब तो!"

इस पुरानी बात की तिक्त स्मृति से दग्ध और आज की नई कटूक्ति के बाण से विद्ध होकर रामप्रसाद का मस्तिष्क घूर्णित हो रहा था। कुछ देर तक वह आँख बन्द किये खड़ा रहा। उसे ऐसा मालूम हो रहा था कि 'क्लीव' और 'नपुंसक' ये दो शब्द अग्नि के अक्षरों में लिखे गये हैं और उसके सिर के चारो ओर आतिशबाज़ी की तरह चक्कर खा रहे हैं। किसी तरह अपने को सँभालकर वह बड़ी कठिनाई से अपने पलँग पर जाकर लेट गया। लेटने के कुछ ही देर बाद वह सिसकियाँ भरने लगा। मोहिनी का पलँग दूसरे कोने पर था। वहाँ से वह रामप्रसाद के सिसकियाँ भरने का शब्द स्पष्ट सुन रही थी। वह बड़बड़ाती हुई पलँग पर से उठी और रामप्रसाद के पास आकर झिड़ककर बोली—"बात क्या है? क्या हुआ? सोने भी दोगे या नहीं? तुम्हारे बौड़मपन के कारण सुबह से शाम तक नाकों दम है। उफ़!"

रामप्रसाद कुछ देर तक चुप रहा, पर मोहिनी के बार-बार डाँटने और कारण पूछने पर वह उठ बैठा और उसका एक पाँव पकड़कर, उस पर अपना सिर रखकर, भर्राई हुई आवाज़ में बोला—"मोहिनी, मुझे क्षमा करो! तुमने मुझसे जो कुछ कहा, वह सही है। मैं दरअसल वैसा ही हूँ। पर तुम मुझ पर दया करो! मैं तुम्हारी शरण में हूँ। तुम्हारे सिवा इस संसार में मेरा अपना कहने को और कोई नहीं है।" यह कहकर उसने दो-एक बूँद आँसू अपनी पत्नी के पैर पर गिरा दिये।

मोहिनी ने असह्य घृणा तथा क्रोध से अपना पाँव छुड़ाते हुए

दिन भी मोहिनी नहीं आई तो वह विह्वल होकर [illegible] रोने लगा। रात को ग्यारह बजे के क़रीब किसी ने किवाड़ा खटखटाया। हड़बड़ाकर रामप्रसाद ने दरवाज़ा खोला। हाँ, वह उसी की प्यारी मोहिनी थी। मोहनी बिना एक भी शब्द बोले ऊपर चली गई। उसे देखकर रामप्रसाद की आँखों में बरबस हर्ष के आँसू निकलने लगे। उसकी ओर निदारुण घृणा की दृष्टि से देखकर मोहिनी ने कटु शब्द से कहा—"नादान बच्चों की तरह रुलाई आ रही है! शरम नहीं आती? क्लीव!...मैं कुछ समय के लिए कहीं सुख,शान्ति, स्वतन्त्रता में रहूँ, यह इनसे देखा नहीं जाता। जब से विवाह हुआ तब से मुझे परेशान कर रक्खा है। मेरे सुख के जीवन में तुमसे बड़ा कण्टक और कोई नहीं है, मैं साफ़ बात कहना जानती हूँ। या तो मैं जल्दी मर जाऊँ या तुम। तभी छुटकारा है।"

यह कहकर, वह फनफनाती हुई, अपने पलँग के पास चली गई, और जूते उतारकर, कपड़े बदलकर, सोने की तैयारी करने लगी। रामप्रसाद काठ के पुतले की तरह स्तब्ध खड़ा था, जैसे किसी ने कील ठोंक कर उसके पाँवों को ज़मीन पर जकड़ दिया हो। उसके चारों ओर सारा कमरा चक्कर लगाने लगा। कमरे की सब चीज़ें बड़े वेग से भों-भों शब्द करके घूमती हुई मालूम पड़ रही थीं। मोहिनी की सभी कर्कश बातों में से एक शब्द विशेष करके उसके कानों में गूँज रहा था—"क्लीव!" इस शब्द का प्रयोग मोहिनी पहले भी कई बार उसके लिये कर चुकी थी। उसे स्मरण हो आया कि मोहिनी को नित्य 'लण्डन-रहस्य,' 'अनोखा आशिक' 'काशी का दलाल' आदि और भी इसी कोटि की पुस्तकों को पढ़ते देख-कर एक दिन जब उसने उसकी रुचि बदलने के उद्देश्य से अपने सम्पादकत्व में निकलनेवाले पत्र का कोई अंक उसे देकर, उसमें प्रकाशित लेखों को पढ़ने का सलाह दी थी तो मोहिनी ने लेखों की सूची पढ़ते हुए दो लेख ऐसे देखे, जिनमें लेखक के नाम के स्थान पर रामप्रसाद का नाम छपा था। लेखों के शीर्षक

थे—'वैदिक संस्कृति' और 'हिन्दू-जाति की रक्षा।' मोहिनी ने पत्र को ज़मीन पर पटककर कटु व्यंग के साथ कहा था—"हूँ! 'वैदिक संस्कृति!' 'हिन्दू-जाति की रक्षा!' तुमको तो क्लीव-धर्म पर लेख लिखना चाहिए। वैदिक संस्कृति को क्यों नाहक़ कीचड़ में ढकेलते हो! और जो आदमी अपनी पत्नी की रक्षा करने में असमर्थ है, उसे हिन्दू-जाति की रक्षा की चर्चा करते हुए शर्म आनी चाहिए। पर नपुंसकों को लज्जा से कोई वास्ता हो तब तो!"

इस पुरानी बात की तिक्त स्मृति से दग्ध और आज की नई कटूक्ति के बाण से विद्ध होकर रामप्रसाद का मस्तिष्क घूर्णित हो रहा था। कुछ देर तक वह आँख बन्द किये खड़ा रहा। उसे ऐसा मालूम हो रहा था कि 'क्लीव' और 'नपुंसक' ये दो शब्द अग्नि के अक्षरों में लिखे गये हैं और उसके सिर के चारो ओर आतिशबाज़ी की तरह चक्कर खा रहे हैं। किसी तरह अपने को सँभालकर वह बड़ी कठिनाई से अपने पलँग पर जाकर लेट गया। लेटने के कुछ ही देर बाद वह सिसकियाँ भरने लगा। मोहिनी का पलँग दूसरे कोने पर था। वहाँ से वह रामप्रसाद के सिसकियाँ भरने का शब्द स्पष्ट सुन रही थी। वह बड़बड़ाती हुई पलँग पर से उठी और रामप्रसाद के पास आकर झिड़ककर बोली—"बात क्या है? क्या हुआ? सोने भी दोगे या नहीं? तुम्हारे बौड़मपन के कारण सुबह से शाम तक नाकों दम है। उफ़!"

रामप्रसाद कुछ देर तक चुप रहा, पर मोहिनी के बार-बार डाँटने और कारण पूछने पर वह उठ बैठा और उसका एक पाँव पकड़कर, उस पर अपना सिर रखकर, भर्राई हुई आवाज़ में बोला—"मोहिनी, मुझे क्षमा करो! तुमने मुझसे जो कुछ कहा, वह सही है। मैं दरअसल वैसा ही हूँ। पर तुम मुझ पर दया करो! मैं तुम्हारी शरण में हूँ। तुम्हारे सिवा इस संसार में मेरा अपना कहने को और कोई नहीं है।" यह कहकर उसने दो-एक बूँद आँसू अपनी पत्नी के पैर पर गिरा दिये।

मोहिनी ने असह्य घृणा तथा क्रोध से अपना पाँव छुड़ाते हुए

कहा—"उफ़! अजब परेशानी है! ऐसे आदमी से पाला पड़ा है कि जीवन में एक क्षण के लिए भी चैन नहीं।" यह कहकर वह अपने पलग पर वापस चली गई।

इस घटना के प्रायः पन्द्रह दिन बाद अचानक रामप्रसाद की तबियत बहुत ख़राब हो गई। डाक्टर निहालचन्द ने पेचिश की शिकायत बताई। रक्त चिन्ताजनक परिमाण में निकल रहा था। तीन रोज़ तक असह्य कष्ट सहन करने के बाद उसके हृदय की गति बन्द हो गई। पास-पड़ोस के लोग आपस में कानाफूसी करने लगे कि मोहिनी ने डाक्टर निहालचन्द से मिलकर, संखिया देकर, रामप्रसाद को मार डाला है।

मई का महीना था। जिस समय रामप्रसाद की अर्थी श्मशान में पहुँचाई गई, उस समय रात हो चुकी थी। पश्चिम की तरफ़ से आकाश में काली घटा उमड़ रही थी और उस पर रह-रहकर बिजली कौंध रही थी। पर पूर्व की तरफ़ आकाश बिलकुल परिष्कार-परिच्छन्न था और तारे टिमटिमा रहे थे। घटा पश्चिम से पूर्व की ओर बढ़ती चली जाती थी। प्राकृतिक घटनाएँ भी कभी-कभी घड़ी और पल गिनकर ठीक समय में किस प्रकार अपना कुचक्र चलाती हैं, यह देखकर आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है। ज्योंही चिता सजाकर उस पर रामप्रसाद का मृत शरीर रक्खा गया, त्योंही बड़े जोरों से आँधी आनी शुरू हुई और आँधी के साथ मूसलाधार पानी बरसने लगा। आँधी का वेग ऐसा ज़बर्दस्त था कि अनुभवी वृद्धों के कथनानुसार वैसी आँधी देहरादून में पहले कभी नहीं आई थी। उसे यदि प्रलय-झंझा कहा जाय, तो कुछ अनुचित न होगा। मालूम होता था कि दुबले-पतले आदमी उसके ज़ोर से हवा में उड़ने लगेंगे। वर्षा भी प्रलय-वृष्टि से कुछ कम नहीं थी। क्षण-क्षण में बिजली चमक रही थी, जो पृथ्वी और आकाश को पल-भर में एक रूप में मिला देती थी। जो लोग अर्थी लेकर आये, वे सब अपनी-अपनी जान बचाने के उद्देश्य से चिता में आग लगाये बिना ही

भागे। बादल रुद्र-रोष से गरज रहे थे, जैसे एक अशक्त मानव प्राणी पर किये गये अत्याचार का बदला लेने के लिए अधीर हों।

प्रायः ३०-४० मिनट तक आँधी-पानी का जोर रहा। जब पागल प्रकृति कुछ शान्त हुई तो लोग चिता के पास आये। पर सबके आश्चर्य की सीमा न रही, जब उन्होंने चिता को शून्य पाया। रामप्रसाद की लाश वहाँ नहीं थी।

इस प्रकार रामप्रसाद के जन्म की तरह उसकी मृत्यु का क़िस्सा भी चिरकाल तक गहन रहस्य से आच्छादित रहा।

× × ×

रामप्रसाद की मृत्यु के प्रायः बारह वर्ष बाद की बात है। मोहिनी किसी एक शहर में उन दिनों एक विधवाश्रम की प्रधान व्यवस्थापिका के पद पर नियुक्त थी। आश्रम में कुछ दिनों से एक नया भंगी काम कर रहा था। उसकी अवस्था ४४-४५ वर्ष के क़रीब मालूम होती थी। यह भंगी किसी से अधिक बातें न करता था और चुपचाप अपना काम किये जाता था। पर जब कभी वह मोहिनी की ओर देखता था, तो वह एक अज्ञात रहस्यमय भय की अनुभूति से ठिठक कर रह जाती थी। एक दिन वह रात को अपने कमरे में एक उपन्यास पढ़ते-पढ़ते बत्ती बिना बुझाये ही सो गई थी। प्रायः आधी रात को जब उसकी नींद टूटी और आँखें खुलीं, तो उसने अपने सामने जो दृश्य देखा, उससे वह अर्द्ध-स्फुट कण्ठ से चीख़ उठी। वह रामप्रसाद को उसकी मृत्यु के पहले जिस वेश में और जिस रूप में देखा करती थी, ठीक उसी वेश में और उसी रूप में इस समय भी उसने उसे अपने सामने खड़ा पाया। भय की भ्रान्ति से वह तत्काल मूर्च्छित होकर गिर पड़ी।

दूसरे दिन आश्रमवासियों ने मोहिनी को प्रबल ज्वर के कारण बेहोशी की-सी हालत में पाया। तीसरे दिन ज्वर कुछ कम हुआ। मोहिनी ने आँख खोलकर डाक्टर से पूछा—"वह क्या अभी तक यहीं है?" डाक्टर

ने कहा—"कौन ?" "मेरे पति ! मेरे पति ! और कौन ? वह क्या अभी तक यहीं हैं ?"

बंगाली डाक्टर ने सदय सहृदयता का भाव दिखाते हुए कहा—"वह तो यहाँ नहीं हैं। तुम्हारा माथा अभी कुछ गरम है। बरफ़ की थैली से ठीक हो जायगा, घबराओ नहीं।"

मोहिनी ने कहा—"तुम लोग सब पागल हो और मुझे भी पागल बनाना चाहते हो।" यह कहकर वह करवट बदलकर फिर लेट गई।

जिस दिन रात को मोहिनी ने अपने पति को सजीव अवस्था में देखा था, उसके दूसरे ही दिन से नवागत भंगी भी आश्रम से लापता हो गया था। मोहिनी उस दिन से फिर पलँग पर से न उठी और प्रायः सत्रह दिन तक बीमार रहकर बदहवासी की हालत में पागलों की तरह अंड-बंड बकती हुई एक दिन चल बसी।

लोगों में यह अफ़वाह गरम हो उठी कि रामप्रसाद को जब चिता में लिटाया गया था तो उसमें जीवन के कुछ चिह्न वर्तमान थे, यद्यपि स्पष्ट नहीं थे। जब तूफ़ान आया तो लोग भाग गये। इस बीच कोई साधु महात्मा आकर उसकी लाश को उठा ले गये और जड़ी-बूटियों के प्रयोग से उन्होंने उसकी आँतों से संखिया का विषैला प्रभाव दूर करके उसमें फिर से जीवन-संचार किया। बारह वर्ष तक इधर-उधर भटकता हुआ रामप्रसाद विधवाश्रम में भंगी के वेश में आ उपस्थित हुआ और मौक़ा पाकर एक दिन उसने मोहिनी को अपना वास्तविक रूप दिखा दिया। इस अफ़वाह में सचाई किस हद तक है, हम कह नहीं सकते।

रोमांटिक छाया

केशवप्रसाद स्नानादि क्रियाओं से निवृत्त होकर एकान्त मन से, भावमग्न अवस्था में यह स्तोत्र पढ़ रहा था— 'भिक्षां देहि कृपावलम्बनकरी मातान्नपूर्णेश्वरी !' इतने में नौकर ने आकर कहा—'बाहर एक बाबू आपसे मिलने आए हैं।'

केशवप्रसाद भक्ति-भाव में ऐसा तन्मय हो रहा था कि उसमें विघ्न पड़ने से उसे तनिक भी प्रसन्नता नहीं हुई। उसकी इच्छा हुई कि नौकर से कह दे—'कह दो कि बाबू अभी नहीं मिल सकते, फिर किसी समय आना।' पर उत्सुकता ने जोर बाँधा। उसने बाहर के कमरे में आ कर देखा कि प्रायः सत्ताईस-अट्ठाईस वर्ष की अवस्था का एक युवक एक मैली-सी चादर लपेटे हुए और प्रायः वैसी ही धोती पहने, कुर्सी पर बैठा हुआ उसका इन्तजार कर रहा था। उसके सिर पर टोपी नहीं थी और बड़े-बड़े रूखे बाल सिर के दोनों ओर बिखरे पड़े थे। चेहरा सूखा हुआ था और आँखें भीतर की ओर धँसी हुई थीं, जिनसे म्लान मुस्कान की एक उदास ज्योति टिमटिमा रही थी। केशव ने विस्मय-भरी आँखों से उसे देखा और उसके सामनेवाली कुर्सी पर बैठ गया।

'आप कहाँ से तशरीफ़ लाए हैं?'

'सहारनपुर से!'

'आपका शुभनाम?'

आगन्तुक ने एक व्याकुल सलज्ज मुस्कान के साथ कहा—'क्या मुझे अभी तक नहीं पहचाना? क्या सचमुच मैं इतना बदल गया हूँ?'

केशव ने इस बार और अधिक आश्चर्य के साथ, बड़े गौर से आगन्तुक की ओर देखा और कुछ क्षण बाद उसने पहचान लिया। पहचानते

ही उसे नवागत व्यक्ति की आकृति बहुत छोटी, प्रायः एक बीस वर्ष के लड़के की सी लगी। वह चौंक पड़ा और कुर्सी से प्रायः उचकता हुआ बोला—'बालमुकुन्द! तुम इस वेष में? तुम्हारा यह हाल! आश्चर्य है!'

उसका आश्चर्य देख कर बालमुकुन्द उसी सलज्ज, म्लान मुस्कान से, नीली आँखों से उसकी ओर देखने लगा। जब वह तनिक भी मुस्कराने की चेष्टा करता, तो उसकी आँखों के आस-पास से होकर गालों से नीचे तक झुर्रियाँ पड़ जाती थीं।

केशव ने पूछा—'इतने दिनों तक कहाँ रहे? आज प्रायः आठ साल से तुम्हारी कोई खबर नहीं मिली।'

'यों ही आवारा फिरा करता था।' अभी तक वही संकोच भरी करुण मुस्कान उसके रूखे चेहरे में वर्तमान थी। केशव उसके सम्बन्ध में कई बातें पूछने के लिए उत्कण्ठित था। पर, जब उसने देखा कि वह कुछ भी बताने के लिए इच्छुक नहीं है, तो वह चुप रह गया।

'कहाँ ठहरे हो?'

अधिक लज्जित होकर बालमुकुन्द बोला—'स्टेशन से सीधे यहाँ आ रहा हूँ!'

'सामान कहाँ है।'

'नौकर उठा ले गया है।'

केशव ने नौकर को पुकार कर चाय तैयार करने के लिए कहा। चाय पी कर स्नानादि से निवृत्त होकर जब वह आया, तो उसके शरीर में फिर उसी ढंग की मैली और पुरानी धोती देख कर केशव को दुःख हुआ। उसने अपनी एक नई धोती निकाल कर उसे दी। उसके ऑफिस का समय हो चला था। उसने अपने और बालमुकुन्द के लिये बाहर ही भोजन मँगाया।

खा पीकर जब केशव ऑफिस जाने को तैयार हुआ तो उसने बालमुकुन्द से कहा—'मैं जाता हूँ, पाँच बजे वापस आऊँगा। तुम

तब तक आराम करना। अगर किसी ख़ास चीज़ की ज़रूरत पड़े, तो भीतर अपनी भाभी जी को सूचित कर देना!'

उसने कुछ उदासी और कुछ गंभीरता के साथ कहा—'अच्छा!' उसके इस संक्षिप्त उत्तर में एक ऐसी मार्मिक वेदना भरी थी, कि केशव सहम गया। कुछ देर तक चुप रह कर उसने पूछा—'अगर तुम्हें किसी बात का कष्ट हो तो कहो। मैं भरसक प्रबन्ध कर दूँगा।'

बालमुकुन्द ने पहले की ही तरह उदासीनता के साथ कहा—'नहीं, नहीं, कोई कष्ट नहीं।'

कुछ देर ठहरने के बाद केशव जाने ही को था कि बालमुकुन्द अचानक उठ खड़ा हुआ और व्याकुल दृष्टि से उसकी ओर देखता हुआ बोला—'मुझे पाँच रुपया देते जाना?'

केशव को उसकी इस आकस्मिक याचना से दुःख भी हुआ और हँसी भी आई। उसने चुपचाप जेब से पाँच रुपये निकाल कर उसके हाथ में रख दिए और चलता बना।

शाम को जब केशव ऑफिस से लौट कर घर आया, तो बालमुकुन्द वहाँ नहीं था। पूछने पर मालूम हुआ कि वह केशव के आफ़िस जाने के कुछ ही देर बाद बाहर निकल गया था, तब से अभी तक नहीं लौटा।

रात को जब घर के सब लोग खा-पी कर सोने की तैयारी कर रहे थे, तो ख़बर मिली कि बालमुकुन्द नशे की हालत में वापस आया है। केशव उसके पास गया, तो उसकी दुर्दशा देख कर बहुत दुःखित हुआ। उसकी आँखें चढ़ी हुई थीं और बोलने में ज़बान लड़खड़ा रही थी। केशव को देखते ही वह उसके गले से लिपट गया और इस ढंग से बोलने लगा, जैसे स्टेज में अभिनय कर रहा हो—'मे मेरे सबसे प्-प्यारे और सब से पु-पुराने मि-मित्र! आज तुम से मि-मिल कर कैसा अपार आनन्द हुआ है, मैं-मैं कह नहीं सकता!'

विकासोन्मुख सुन्दर पुष्प मुरझा कर सड़ने लगा ! मानव-जीवन के इस 'मिथ्या मायामोहावेश' पर विचार करते करते वह सो गया ।

दूसरे दिन बालमुकुन्द कुछ देर से उठा । केशव जब उसके पास गया, तो वह अपराधी की तरह संकोच-भरी दृष्टि से उसकी ओर देखने लगा । केशव ने रातवाली घटना का कोई उल्लेख नहीं किया और उसकी तबियत की हालत पूछ कर वहाँ से चला गया ।

रात को बालमुकुन्द फिर नशे की हालत में वापस आया तथा सब प्रकार का संकोच त्याग कर उन्मुक्त रूप से काव्य-मयी भाषा में केशव के साथ 'प्रेमालाप' करने लगा । कभी उसका हाथ पकड़ कर कहता—'तुम मेरे परम स्नेही मित्र हो !' कभी उसके कंधे पर हाथ रख कर कहता—'परम स्नेही मित्र ही ज़ीवन में परम शत्रु सिद्ध होते हैं—यह नैचर का लॉ है, विधाता का विकृत विधान है !' केशव उसकी इन सब बातों को एक शराबी का प्रलाप समझ कर म्लान मुस्कान मुख पर झलका कर चुप रह जाता था ।

लगातार तीन-चार दिन तक बालमुकुन्द का यही हाल रहा । दिन में वह अत्यन्त, शान्त, शिष्ट और विनम्र बन जाता था और रात में शराब के प्रभाव से वह बड़ा ह बातूनी बन जाता था । तारीफ़ की बात यही थी कि शराब के लिये पैसे वह रोज़ केशव से दफ्तर जाने के पहले माँग लेता था । उसके बाद दिन भर ग़ायब रहना और रात को...।

उस दिन रविवार था । केशव दिन-भर बालमुकुन्द को अपने पास पकड़े रहा और शाम होते ही वह उसे हवाख़ोरी के बहाने दूर गंगा के किनारे एक एकान्त स्थान में ले गया । दोनों कुछ देर तक मौन भाव से बैठे रहे और वर्षा के कारण यौवन की उमंग से इठलाती हुई गंगा की लहरों के पागल उच्छ्वासों से सिहरते-से रहे । उसके बाद अचानक केशव बोल उठा—'देखो बालमुकुन्द, तुम्हारी हालत देख कर मुझे बहुत दुःख हुआ है । मैं अपने दिल की हालत तुम्हें ठीक बता नहीं सकता......सच बताओ, तुम्हारा यह पतन कैसे सम्भव हुआ ?'

बाल मुकुन्द मुस्कराने लगा। पर, आज उसकी मुस्कान में लज्जा या संकोच का नाम नहीं था। अपने छुटपन की स्वाभाविक ढिठाई से उसने कहा—'क्या सचमुच जानना चाहते हो? अच्छा तो सुनो। पर, तुम शायद ठीक समझ नहीं पाओगे, कारण यह है कि तुम बड़े नीतिनिष्ठ और आदर्श गृहस्थ हो; लेकिन भावुक प्रेमिक तुम कभी नहीं रहे हो। मैं यह नहीं कहना चाहता कि तुम भाभी जी को नहीं चाहते। पर, विवाह के अधिकार से प्राप्त सहज, शान्त प्रेम में वह उन्माद, वह तीक्ष्णता, वह बेचैनी कहाँ जिसका अनुभव मुझे आठ वर्ष पहले हुआ था! और, जिसके कारण मैं अभी तक प्रति दिन, प्रतिपल तुषाग्नि की-सी अदृश्य आँच में भीतर ही भीतर जल रहा हूँ! हमारे इस अभागे देश में प्रेम का नाम तो बहुत लोगों ने सुना है और प्रेम के गीत भी हर सिनेमा-हाउस में नित्य सुनने में आते हैं; पर लाखों में दो-चार आदमी भी उसके मर्म को छेद डालनेवाली पीड़ा की वास्तविकता से परिचित हैं या नहीं, इसमें सन्देह हैं। तुम हँसते हो? हँसो, पर इस हँसी से तुम किसी सच्चे प्रेमी की पीड़ा को तुच्छ नहीं कर सकते।

'मेरी प्रेमपात्री के सम्बन्ध में जानने के लिए तुम अवश्य ही उत्सुक होगे। तुमसे छिपाने की कोई बात नहीं है, फिर भी मैं उसका नाम अभी तुम्हें नहीं बताऊँगा; क्योंकि...पर पहले मेरी बात पूरी तरह सुन लो। जब मैंने पहले-पहल उसे देखा; तब वह सम्भवतः सोलहवाँ वर्ष पार कर चुकी होगी। कुछ भी हो, तब उसका विवाह नहीं हुआ था। वह एक 'कल्चर्ड फेमेली' की लड़की थी। सुशिक्षिता होने पर भी गृहकार्य में उसकी दक्षता अपूर्व थी। यदि मैं उसे सुन्दरी कहूँ, तो विशेषज्ञ मेरी बात मानने के लिए तैयार न होंगे। क्योंकि; क़द में वह छोटी थी, मुँह उसका गोल था और आँखें तनी हुई होने पर भी प्रायः सब समय अध-खुली-सी दिखाई देती थीं। दीर्घ अनुभव से मैं इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि छोटी आँखें ध्यान-मग्न योगियों की निमीलित आँखों की तरह जिस रहस्यमय भीतरी सौन्दर्य का परिचय देती हैं, वह निराला होता है। मैंने जीवन में

उसे कभी हँसते न देखा और शायद ही वह कभी प्रकट रूप से रोई होगी। सहज उदासीनता, मन्द-मधुर, पवित्र और स्थिर भाव प्रतिपल उसके मुख-मण्डल में व्यक्त रहता था। इसलिये उसके प्रथम दर्शन से ही मेरे मन में अनन्त की जो छाप पड़ गई, वह वज्ररेखा की तरह किसी युग में किसी जन्म में नहीं मिट सकती, यह बात मैं उसी दम समझ गया था।

खैर। मैं कह नहीं सकता कि वह मुझे चाहती थी या नहीं! पर, मैं उसके पाँवों की धूलि के लिये भी लालायित रहता था कि मिले तो कुछ सिर पर चढ़ाऊँ और कुछ स्मृति के बतौर बक्स में बन्द रखूँ।

'मेरी बड़ी इच्छा रहते हुए भी उसके साथ मेरा विवाह नहीं हो पाया। इस बात से मुझे गहरा धक्का अवश्य पहुँचा, पर पीछे मैं सँभल गया और यह सोच कर मुझे आनन्द मिला कि जिसके साथ उसका विवाह हुआ है, वह मुझसे भी योग्य है और उसके साथ रह कर वह सुखमय जीवन बितावेगी। पर, जो वज्र-चिह्न मेरे मन में अंकित हो गया था, वह प्रतिपल मुझे उसकी याद दिला कर एक ओर निर्मम पीड़ा पहुँचाता था और दूसरी ओर एक निराली ही पुलक-भावना का अनुभव कराता था। फिर भी मैं बरबस उसे भूलने का प्रयत्न करने लगा। दो साल तक गेरुआ वस्त्र पहन कर वैराग्य धारण करके विन्ध्याचल की खोहों में छिपा रहा। पर उसे भूलने के बजाय उसकी स्मृति तीक्ष्ण से तीक्ष्णतर होती चली गई। मैंने वापस आकर सार्वजनिक क्षेत्र में बड़े उत्साह के साथ काम करना शुरू किया, केवल इस ख्याल से कि उसे भूल सकूँ। मेरा ऊपरी मन राजनीतिक कार्रवाइयों में व्यस्त रहने पर अन्तर्मन पल-भर के लिए भी उसे नहीं भुला पाता था। यहाँ तक कि जब मैं प्लेटफार्म पर खड़ा हो कर अपनी वाग्धारा में जनता को बहाये लिये जाता था; तो उस समय भी सारी जनता छाया की तरह मेरी आँखों से विलीन हो जाती थी और जिस मूर्ति को लक्ष्य करके मैं भाषण देता था, उसे मेरे अन्तर्वासी के सिवा और कोई नहीं देख पाता था।

भूत की तरह वह छाया जहाँ एक तरफ़ मेरी आत्मा को किसी अज्ञात

रहस्यमय लोक की ओर प्रेरित करती थी, वहाँ दूसरी ओर हमें अत्यन्त शंकित और परास्त कर देती थी। आत्मा की यह थकावट क्या चीज़ है और कितनी भयंकर है; यह बात मैं किसी प्रकार भी तुम्हें समझा नहीं पाऊँगा। जो भी हो, उससे मुक्ति पाने के लिये मैंने पीना शुरू कर दिया। पीने की इस लत ने मुझे निकम्मा बना दिया। धीरे-धीरे मन में एक ऐसी जड़ता छाने लगी कि सार्वजनिक कामों में भी मुझे तनिक भी दिलचस्पी नहीं रह गई, फल यह हुआ कि मैं बन गया नम्बरी निठल्ला। दिन भर विचित्र प्रकार के दिवा-स्वप्न और रात-भर दुःस्वप्न देखते रहने के सिवा मेरे लिये जैसे जीवन का और कोई लक्ष्य ही नहीं रह गया था! और, इस लक्ष्य को बनाए रखने के लिये मुझे 'पीने' के लिये प्रतिदिन की सुविधा की परम आवश्यकता थी। पर, बेकारी—जिसका एक कारण मेरा निकम्मापन था—मुझे यह सुविधा नहीं दे सकती थी, इसीलिये मैंने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये एक विचित्र ही तरीका अख़्तियार करना शुरू किया। मैं कुछ विशेष-विशेष व्यक्तियों के पास उनके कुछ ऐसे मित्रों के नाम की जाली चिट्ठियाँ ले जाता, जिनका वे सम्मान करते थे; पर जिनके हस्ताक्षरों से भली भाँति परिचित नहीं रहते थे। उन चिट्ठियों में लिखा रहता,—पत्र-वाहक एक शरीफ़ घराने का योग्य और सुशिक्षित लड़का है और इस समय अर्थ-कष्ट से पीड़ित है, इसलिये उसकी कुछ सहायता कर सकें, तो अवश्य कर दीजियेगा।' इस उपाय में मुझे अक्सर सफलता मिल जाती और मैं शराब पी पी कर कभी किसी होटल में पड़ा रहता, कभी किसी रेलवे स्टेशन के प्लेटफ़ार्म पर या वेटिंग रूम में। नौबत यहाँ तक पहुँची कि मैंने रेलवे स्टेशन में दो-एक यात्रियों की गाँठ तक काट ली। पर यह उपाय अधिक समय तक न चल सका और एक दिन मैं असावधानी के कारण पुलिस के चंगुल में आ गया। साल-भर की क़ैद भुगत कर मैं सीधे तुम्हारे ही पास पहुँचा हूँ। मैं जानता हूँ कि मैं एक निकम्मा रोमांसवादी हूँ और जीवन के बहुत ही ग़लत दृष्टिकोण को मैंने अपनाया है। जेल में विशेष रूप से यह कड़वा सत्य स्पष्ट रूप

में मेरे सामने आया। पर, यह सब होते हुए भी वह आप्तोपदेश मेरे किसी काम न आ सका और मैं अभी तक भूतनाथा की तरह उस रोमांटिक छाया को नहीं भूल सका हूँ।'

* * *

दो-तीन दिन बाद बालमुकुन्द केशव के यहाँ से चला गया। उसके प्रायः एक सप्ताह बाद सहारनपुर से केशव के पास एक चिट्ठी आई, जिसमें अन्य बातों के साथ एक बात यह भी लिखी थी कि जिस 'छाया' का ज़िक्र उसने उस दिन किया था वह और कोई नहीं केशव की स्त्री लीला है ! पत्र पढ़ कर केशव के दिमाग़ में सन्नाटा छा गया। कुछ सोच-समझ के बाद उसने वह पत्र अपनी स्त्री के हाथ में दे दिया। पत्र पढ़ते-पढ़ते लीला की आँखों से टपाटप आँसू गिरने लगे। बालमुकुन्द के पत्र ने केशव को इतना विचलित नहीं किया, जितना लीला के उन आँसुओं ने किया। उन आँसुओं ने उसके जीवन का एक बड़ा भारी भ्रम जैसे धो डाला। उसकी शांत गृहस्थी की फुलवारी में पहली बार एक घातक कीट घुस आया। वह सोचने लगा—'एक नम्बरी लम्पट, गिरहकट और बदमाश के लिये लीला ने ये जो आँसू बहाए हैं, उनका आदि स्रोत कहाँ पर है और अन्त कहाँ पर होगा ?'

बालमुकुन्द की पतित दशा के प्रति उसके मन में जो सहानुभूति उमड़ उठी थी, लीला के आँसुओं ने न जाने किस रहस्यमय रासायनिक क्रिया से उसे घोर घृणा में परिणत कर दिया।